२६१

अरुणिमा दिलजन

H.Ac. 92

निबन्धश्री

2826

O152,6x
L5

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

0152,6x 0161
L5
सिन्मत (अष्टगीता), संपा
गिरधर पुरी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

0152,6x 0161
L5 ५०=ε२

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निबन्धश्री

संपादिका

अरुणिमा दिलजन

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रथम संस्करण : १९७५ ई०

मूल्य : चार रुपये

0152,6x
L5

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
आगत क्रमांक 0161
दिनांक 2/5/80

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक

स्वस्तिक मुद्रणालय, गोलघर, वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनुक्रम

	निवन्ध		५–१४
१.	सच्ची वीरता	सरदार पूर्णसिंह	१
२.	लोकधर्म	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	१९
३.	साहित्य विटप	पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी	२५
४.	गेहूँ बनाम गुलाब	रामवृक्ष बेनीपुरी	३२
५.	राजसेवक	वासुदेवशरण अग्रवाल	३९
६.	देत सिख, सिखयो न मानत	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	४६
७.	रामा	महादेवी वर्मा	५३
८.	पुराण और संस्कृति	'अज्ञेय'	७०
९.	भाषा धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता	डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा	७७
१०.	मैं मधुवन जाऊँगा रे	डॉ० विद्यानिवास मिश्र	८७
११.	नारायण और प्रतिनारायण	कुबेरनाथ राय	९६
	परिशिष्ट		१०४–११६

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निबन्ध

'निबन्ध' एक व्यापक नाम है, जिसके अन्तर्गत परीक्षा के लिए लिखे गये छात्रों के निबन्ध से लेकर कठिन-से-कठिन विषयों पर चिन्तनपरक निबन्ध और मामूली-से-मामूली बात से शुरू करके गहरी संवेदना में परिणत होनेवाले व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध भी आ जाते हैं। साहित्य की एक ही विधा में अभिव्यक्ति के इतने अधिक अवकाश के साथ इतना लम्बा अन्तराल 'निबन्ध' के अतिरिक्त और कहीं किसी भी विधा में नहीं है, चाहे वह कविता, कहानी, नाटक या उपन्यास—कोई भी क्यों न हो। वास्तव में संसार में जड़ या चेतन—जितने भी पदार्थ हैं, सभी निबन्ध का विषय हो सकते हैं और फिर हर व्यक्ति का दृष्टिकोण भी एक दूसरे से भिन्न होता है। यही कारण है कि आज पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित 'लेख', 'रचना', 'संस्मरण', 'रेखाचित्र', 'भाषण', 'पुस्तकों की भूमिका' 'प्रस्तावना', 'विज्ञप्ति', 'दो-शब्द' से लेकर 'अध्याय' या 'अध्याय के अंश', 'पत्र', 'डायरी' और न जाने क्या-क्या निबन्ध के ही भीतर परिणित किये जाते हैं; किन्तु निबन्ध को इन समग्र बिविधतापूर्ण सामग्री का अवलोकन करने पर निबन्ध की कुल दो ही कोटियाँ मुख्य रूप से परिलक्षित होती हैं—

१. सर्जनात्मक या रचनात्मक निबन्ध।

२. समीक्षात्मक या स्थापनात्मक निबन्ध।

पहले प्रकार के सर्जनात्मक निबन्ध ललितकला या रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इन निबन्धों में निबन्धकार स्वयं प्रकट होकर पाठक के साथ सीधा आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करता है तथा अपने विशिष्ट उक्ति, चातुर्य से उसकी बुद्धि और हृदय को छूता, उकसाता और विलगाता हुआ विवेच्य विषय का प्रतिपादन करता है।

दूसरे प्रकार के निबन्ध सिद्धान्त विवेचना या विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। ये तथ्यपरक और वस्तुनिष्ठ होते हैं, जहाँ केवल तर्क और विवेचना-शक्ति से पाठक की बुद्धि और चेतना को उकसाने का प्रयास किया जाता है। 'निस्संग'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बुद्धि, वैज्ञानिक विवेचना का सहारा है और आसक्त चित्त सौन्दर्य मर्मज्ञ का। संसार के विविध पदार्थों को दोनों दृष्टियों से देखा गया है। साहित्य में दूसरा मार्ग स्वीकार किया गया है।[1] आज जब हम विशुद्ध निबन्ध की बात करते हैं, तो सर्जनात्मक निबन्धों से ही हमारा अभिप्राय होता है, जो वस्तुओं को संश्लिष्ट और विशिष्ट रूप से देखते हैं। अन्य प्रकार के निबन्धों को अपने विषयगत उपभेद के विशेषण जोड़कर अभिहित किया जाता है; जैसे-- आलोचनात्मक निबन्ध, राजनीतिक निबन्ध, ऐतिहासिक निबन्ध आदि। किन्तु, इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इस प्रकार के निबन्ध सर्जनात्मक हो ही नहीं सकते। कोई भी निबन्ध यदि वह विशुद्ध सर्जन के उद्देश्य से लिखा जाय तो वह सर्जनात्मक हो सकता है। किन्तु यदि उसमें केवल पिष्ट-पेषण उद्धरणों के संकलनमात्र हैं, तो उसे सर्जनात्मक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए शोध-निबन्धों में मौलिक-विवेचन और तथ्यों का प्रकाशन होते हुए भी इसे सर्जनात्मक नहीं कहा जा सकता, पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'कविता क्या है,' अथवा पं० विद्यानिवास मिश्र के 'रीति-विज्ञान की नयी पुरानी भूमिका'—जैसे निबन्ध विवेचनात्मक होते हुए भी प्रतिपादन की ताजगी और विचारों को नया मोड़ देने के कारण सर्जनात्मक ही कहे जायेंगे।

सम्प्रति, हिन्दी-साहित्य-जगत् में निबन्ध अंग्रेजी 'एस्से' (Essay) के पर्याय के रूप में प्रचलित है। 'एस्से' फ्रेंच भाषा के 'एसाइस' का विकसित रूप है, जिसका अर्थ है, 'प्रयत्न करना', 'प्रयोग करना' और जिसके जन्मदाता फ्रांसीसी विद्वान् मॉन्तेन महोदय हैं, जिनकी समस्त कृतियाँ इस प्रयत्न-परम्परा में ही आती हैं। इस रूप में 'एस्से' से तात्पर्य ऐसी रचना से है—जो प्रयोग ही हो, जिसमें निबन्ध-विधान के सौष्ठव की अपेक्षा अनगढ़ता हो, किसी रूप-विन्यास का आग्रह जिसमें न हो, किसी अभिव्यक्ति-प्रणाली की शास्त्रीय परि-सीमाएँ जिसमें न हों। किन्तु 'एस्से' की नवीन एवं आधुनिकतम परिभाषाओं में आकार की संक्षिप्तता के साथ संरचनात्मक सुगठन और सुनिश्चित तारतम्य पर अपेक्षित बल दिया गया है—इस प्रकार "निबन्ध किसी विषय-विशेष अथवा

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर, पृ० १३६।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किसी विषय के अंश पर लिखी गयी साधारण आकार की रचना है, जिसमें आरम्भ में अपूर्णता की कल्पना रहती थी, किन्तु अब उसका प्रयोग एक ऐसी रचना के लिए किया जाता है, जिसकी परिधि तो सीमित रहती है, पर प्रायः प्रौढ़ और परिमार्जित रहती है।"

अपने मूल अर्थ में भी 'निवन्ध' शब्द 'भलीभाँति' बँधी, सँवरी तथा गठी हुई रचना का द्योतक है।—नि + वन्ध + ल्युट्—'निबध्यते अस्मिन् इति अधिकरणे निवन्धनम्'। अर्थात् जिसमें विचार बाँधा अथवा गूँथा जाय,—ऐसी रचना; नि + वन्ध + घञ्—निश्चितार्थेन विषयं अधिकृत्य बन्धनम्—अर्थात् निश्चित रूप से किसी विषय पर विचारों की शृंखला बाँधना, रोकना अथवा संग्रह करना। 'शब्द-कल्पद्रुम' की व्याख्या—'निवघ्नातीति निबन्धनम्' के अनुसार—जो बाँधता है, वही निबन्ध है। 'आजकल साहित्यिक-क्षेत्र में वह विचारपूर्ण, विवरणात्मक और विस्तृत लेख, जिसमें किसी विषय के सब अंगों का मौलिक और स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया जाय'[1] निबन्ध कहलाता है।

इस प्रकार 'निवन्ध' हिन्दी-साहित्य की सर्वथा नवीन और स्वतन्त्र विधा के रूप में विकसित है और अपने समानार्थी और समीपतम ठहरनेवाले 'प्रबन्ध', 'रचना', 'लेख' आदि साहित्यरूपों से पूर्णतया भिन्न है। 'प्रवन्ध' का प्रयोग उस गद्य-रचना के लिए होता है, जिसमें लेखक किसी विषय की—सांगोपांग, विस्तार के साथ अपनी आत्म-शैली में विवेचन करता है।[2] संस्कृत-साहित्य में भी 'प्रवन्ध', निवन्ध की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त था। वहाँ एक ही विषय पर संगृहीत अनेक व्याख्याएँ जिस ग्रन्थ में हों, उसे निबन्ध और जिस ग्रन्थ में अनेक विषयों के सम्बन्ध में अनेक मतों का संग्रह हो, उसे प्रवन्ध कहते थे। 'रचना' से तात्पर्य किसी प्रणाली की कृति की आख्या और शब्दों के शुद्ध प्रयोग अथवा व्याकरण के नियमों के पालन के लिए विद्यार्थियों द्वारा अभ्यास करायी जानेवाली 'रचना' से है। यह अत्यन्त व्यापक शब्द है और सामान्यतया जो कुछ भी शब्दों में कहा जाय—गद्य के रूप में हो, अथवा पद्यरूप में—इसकी

---

१. मानक हिन्दी शब्द-कोश।

२. धीरेन्द्र वर्मा (सं०), हिन्दी साहित्य-कोश।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिधि के भीतर समाहित हो जाता है। 'लेख' भी एक स्वतन्त्र रचना-प्रवाह है, जिसमें लेखक प्रमुखतया निर्वैयक्तिक और शास्त्रीय ढंग से किसी विषय पर—संक्षिप्त, किन्तु आद्योपान्त—प्रकाश डालता है; जब कि वैयक्तिकता निबन्ध-रचना के लिए पहली और आवश्यक शर्त है। ऐसी भ्रान्त धारणाओं के फलस्वरूप ही 'संस्मरण', 'रेखाचित्र', 'डायरी', 'गद्यकाव्य', 'जीवनी', 'आत्मकथा', 'रिपोर्ताज', 'यात्रावर्णन' आदि नव-विकसित आधुनिक गद्यविधाओं को भी 'निबन्ध' के भीतर ही समेट लिया जाता है; जब कि 'निबन्ध' का अपना, सबसे ही अलग—निजी, स्वतन्त्र और मौलिक स्वर है और इसी कारण यह साहित्य-जगत् में स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित है।[१]

वस्तुतः निबन्ध व्यक्तित्व के प्रकाशन का सर्वाधिक सशक्त और प्रभावशाली माध्यम है। निबन्ध में निबन्धकार की समूची जीवनानुभूति, विचार-परम्परा, सांस्कृतिक रुचि-अरुचि तथा सामाजिक दृष्टि की सृजनात्मक अभिव्यक्ति होती है। इन्हीं तत्त्वों से उसके सर्जक अहं का निर्माण होता है। निर्वैयक्तिकता इन निबन्धों में सम्भव नहीं है; किन्तु यह भी सम्भव नहीं कि अपने सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश से निबन्धकार का व्यक्तित्व अछूता रह जाय। निबन्धकार समाज का सर्वाधिक संवेदनशील सदस्य है। अतः निबन्ध के माध्यम से निबन्धकार के सर्जक अहं के साथ-साथ उसका समूचा युग बोलता है, एक सामाजिक-चेतना और उससे भी आगे बढ़कर विश्व-चेतना की अभिव्यक्ति होती है।

वस्तुतः 'निबन्ध-लेखक' किसी एक विषय को छेड़ता है, पर जिस प्रकार वीणा के तार छेड़ने से बाकी सभी तार स्वयं झंकृत हो उठते हैं, उसी प्रकार एक विषय को छूते ही लेखक की चित्त-भूमि पर सैकड़ों विचार बन उठते हैं।[२] सुगठित और सुदृढ़ वैचारिक पीठिका के अभाव में निबन्ध का ढाँचा खड़ा ही

---

१. '......संस्मरण, यात्रा-प्रसंग, रेखाचित्र और डायरी के नाम पर प्रचलित बहुत सारी गद्य-कृतियों को व्यक्ति-व्यञ्जक निबन्ध की कोटि में नहीं रखा जा सकता। उनमें शैली रहती है, शब्दों के साथ विलास भी रहता है और वैयक्तिक संस्पर्श भी। किन्तु व्यक्ति-व्यञ्जक निबन्धों की एकाग्रता और वैचारिक पीठिका के अभाव में ऐसी कृतियाँ निबन्ध नहीं हो पातीं।' विद्यानिवास मिश्र—आधुनिक निबन्धावली, पृ० १।

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हम चन्दन हम पानी' की भूमिका, पृ० १।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं हो सकता। वस्तुतः निबन्ध, लेखक जिधर चलता है, उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ, अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों को साथ लिये हुए—अतः साहित्य की कोटि में वे ही निबन्ध स्वीकार किये जा सकते हैं—जिसमें हृदय के राग और बुद्धि के व्यापार का सुन्दर संयोग और समन्वय हो।[1] इसीलिए निबन्धकार का सहृदय और संवेदनशील होना निबन्ध के लिए आवश्यक और अनिवार्य शर्त है; किन्तु निबन्धकार का बहुश्रुत और बहुज्ञ होना भी कम आवश्यक नहीं। एक कम पढ़ा-लिखा आदमी कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि भले ही लिख ले, निबन्ध-रचना उसके बस की बात नहीं।

विषय और शैली की दृष्टि से निबन्ध की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। यह 'सदा बिहारी यायावर जैसा चिरप्रवासी, सर्वत्रगामी और स्वच्छन्द' है, किन्तु निबन्धकार की यह स्वच्छन्दता उच्छृङ्खलता का पर्याय नहीं। उसकी स्वच्छन्दता में भी एक छन्द है, अनियमितता में भी एक नियम है और अव्यवस्था में भी एक व्यवस्था है। इसीलिए सतही—तौर पर निबन्ध में असम्बद्ध दिखायी देनेवाले विच्छिन्न अव्यवस्थित सन्दर्भ जुड़े रहते हैं, किन्तु उनमें भीतरी स्तर पर एक अन्विति होती है; एक समग्र प्रभाव की सृष्टि होती है।

अधिकांशतः विद्वानों ने इस प्रकार के सर्जनात्मक निबन्धों का मूलस्रोत अंग्रेजी-साहित्य को माना है। और प्रायः एकमत से स्वीकार किया है कि प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय साहित्य में इस प्रकार के सर्जनात्मक निबन्धों का पूर्णतया अभाव था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन संस्कृत-साहित्य में जिस साहित्य को 'निबन्ध' कहा गया है, उसमें धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों की विवेचना ही मिलती है, ये एक प्रकार से 'निस्संग बुद्धि की वैज्ञानिक विश्लेषणपरक रचनाएँ'[2] हैं; साथ ही यह भी निर्विवाद है कि आज के हिन्दी निबन्धों को एक नयी प्रेरणा अंग्रेजी, बंगला और मराठी की निबन्ध-विधाओं से मिली और उसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की निबन्ध-विधाएँ हिन्दी में विकसित हुईं, किन्तु इनका आरम्भ बहुत पहले संस्कृत में वैदिक एवं पौराणिक स्तुतियों एवं आख्यानों के रूप में हो चुका था, इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता। इन स्तुतियों एवं आख्यानों

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५०६ (

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य-सहचर पृ० १३७।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के इन गद्य-खण्डों में, जहाँ 'देवता' और 'मनुष्य', 'मैं' और 'तुम' के प्रत्यक्ष सम्बन्ध में आबद्ध दीख पड़ते हैं, उपनिषदों में जहाँ जन्म, मरण, आत्मा, संन्यास आदि गूढ़ दार्शनिक विषयों पर सहज सुहृद्वत् आत्मीयता से इस प्रकार की चर्चा की गयी है कि रचनाकार का व्यक्तित्व भी मुखरित हो उठा है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की कथाओं और आख्यायिकाओं में जहाँ लेखक और पाठक के बीच प्रत्यक्ष संवादिता दिखायी पड़ती है—इन निबन्धों के लक्षण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। निस्सन्देह, हिन्दी निबन्धों के पीछे संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के गद्य की सुविकसित परम्परा थी, जिनमें इन निबन्धों का बीजरूप सुरक्षित था। 'शहा' की मान्यता है—"पौधा, वह चाहे पाश्चात्य भूमि का हो, पनपा इसी धरती पर है;" पर वस्तुस्थिति तो यह है कि धरती भी यहीं की है, और बीज भी हमारा अपना ही है। हाँ; पाश्चात्य भूमि के उस पौधे के सम्पर्क में आकर यहाँ उस बीज को पल्लवित और पुष्पित करने का उछाह अवश्य आया है। पर इसी आधार पर यदि कोई संस्कृत आदि प्राचीन भारतीय साहित्य में 'हैज़लिट', 'लैम्ब', 'स्टीवेंसन', को ढूँढ़ने का प्रयास करे, तो निराशा ही हाथ लगेगी। कदापि यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक अर्थबोध को ग्रहण करनेवाले व्यक्ति में समर्थ निबन्ध इसी रूप में वहाँ भी लिखे जाते थे। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वे कुछ प्रमुख तत्त्व जिन्हें आधुनिक हिन्दी निबन्धों का वैशिष्ट्य कहा जा सकता है, वहाँ अपने सम्पूर्ण सौष्ठव के साथ मौजूद है।

विविध आंगिक और आत्मिक तत्त्वों के वैविध्य के आधार पर अनेकानेक रीतियों से निबन्ध को वर्गीकृत किया जा चुका है। किन्तु सामान्यतया शैली और संरचना के अनेकानेक प्रकारों को दृष्टि में रखते हुए मुख्य चार उपभेद ही हैं, जिनमें स्थूल रूप से निबन्ध को बाँटा जा सकता है—

१. कथात्मक : जिसमें काल्पनिक वृत्त, आत्म-चरितात्मक प्रसंग, पौराणिक आख्यान आदि का प्रयोग किया जाता है।

२. वर्णनात्मक : जिनमें प्रकृति या मनुष्य-जीवन की घटनाओं का आत्म-निष्ठ शैली में वर्णन किया जाता है।

३. विचारात्मक : इसमें विचारों की प्रत्यक्ष शृंखला आद्योपान्त बनी रहती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

४. भावात्मक : जिनमें लेखक के हृदय से निस्सृत भावधारा ही विचार-सूत्र का नियंत्रण करती है।

हिन्दी निबन्धों के विकास-क्रम को निम्नलिखित पाँच कालों में देखना अधिक संगत होगा—

'प्रादुर्भावकाल, प्रसारकाल, परिपाककाल, उत्कर्षकाल, और नवसंक्रमणकाल—

भारतेन्दु-युग को निबन्धों का प्रादुर्भाव-काल मानना चाहिए। अपने वास्तविक अर्थ में निबन्धों का सूत्रपात इसी युग में हुआ। इस अवधि में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले अत्यन्त जीवन्त जागरूक और आत्मीय निबन्ध लिखे गये। निबन्धों का सर्वोत्कृष्ट अंश पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुआ, क्योंकि निबन्ध अधिकांशतः पत्र-पत्रिकाओं के ही लिए—उनके सम्पादकों द्वारा—लिखे जाते थे। भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा', प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण', पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने 'भारत-मित्र' तथा पं० माधवप्रसाद मिश्र ने 'सुदर्शन' जैसी पत्रिकाओं और पत्रों का सम्पादन किया और उनके माध्यम से निबन्धों की परम्परा को सुदृढ़ बनाया। अपने युग की सामाजिक परिस्थिति इन निबन्धों में पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित हुई है। इन निबन्धकारों का उद्देश्य समाज की जर्जरित रूढ़ियों पर प्रहार करना था; परन्तु नवीनता का विवेकशून्य अन्धानुकरण इनके निबन्धों में कहीं नहीं मिलता। इस युग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रतिभा-सम्पन्न निबन्धकार श्री भारतेन्दु ने भाषा, साहित्य, देशभक्ति, समाजसुधार इतिहास, पुराण-धर्म, अध्यात्म आदि तमाम विषयों पर तमाम निबन्ध, रोचक और प्रवाहपूर्ण शैली में लिखे। बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में उनके गहन अध्ययन-मनन के साथ व्यंग्य की तीखी मार भी है, जो सीधे मर्म पर प्रहार करती जान पड़ती है। इनके निबन्धों में विषय-वैविध्य खूब मिलता है। पं० प्रतापनारायण मिश्र आत्मव्यञ्जक निबन्धकार के रूप में सुख्यात हैं। व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की झलक उनके 'दाँत', 'भौंह', 'खुशामद' आदि निबन्धों में देखी जा सकती है। बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों में सजग सामाजिक घृणा की दृष्टि का उन्मेष है। शैली की दृष्टि से इन्हें स्वच्छन्द और आत्मपरक कहा जा सकता है। भाषा अधिक परिमार्जित तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं, किन्तु सजीव है। लोकोक्तियाँ और मुहावरों का प्रयोग-बाहुल्य है। हास्य व्यंग्य इनका प्रधान अस्त्र है।

हिन्दी-साहित्य-जगत् में महावीरप्रसाद द्विवेदी के आविर्भाव के साथ निबन्धों की दिशा में विषय, विचार, भाषा एवं शैली—प्रत्येक दृष्टि से गम्भीरता एवं प्रयोजनशीलता का समावेश होता है। सरस्वती पत्रिका का इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व है। अनेकानेक गवेषणापूर्ण व्याकरण-सम्मत निबन्ध, ज्ञान-विज्ञान आदि विविध विषयों पर लिखे गये। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, रॉयल एशियाटिक सोसायटी एवं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा गम्भीर साहित्यिक विषयों के अनुसंधान और प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। भाषा को परिमार्जित और परिष्कृत करने के साथ-ही-साथ निबन्धों का व्यापक प्रसार भी किया गया। अन्य प्रतिनिधि निबन्धकार—पं० माधवप्रसाद मिश्र, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के निबन्धों में अध्यापक के स्वर को प्रमुखता मिली है। सरदार पूर्णसिंह, बाबू गुलाब राय, पद्मसिंह शर्मा, आदि के निबन्ध व्यक्ति-निष्ठ, भावात्मक और संस्मरणात्मक हैं। गुलेरीजी के निबन्धों में उनका पाण्डित्य व्यंग्य-विनोद के रंग में रंगकर प्रकट हुआ है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने प्राध्यापकीय शैली में साहित्यिक विषयों पर विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखे हैं। मिश्र-बन्धुओं के निबन्ध शिक्षोपयोगी अधिक हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, निबन्ध-साहित्य के शिखर-पुरुष माने जाते हैं। इनके अभ्युदय के साथ निबन्धों में वैयक्तिक-अभिव्यञ्जना के साथ गम्भीर चेतना को समन्वित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। इसके पूर्व भी था? इन्होंने निबन्धों को विशेष गम्भीरता और गरिमा प्रदान की एवं उच्चस्तरीय अध्ययन-मनन के योग्य बनाया। निबन्ध को वे 'गद्य की कसौटी' मानते हैं और यह भी—कि 'भावों एवं भाषा की पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति निबन्ध में ही सम्भव है।' (रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य, पृ० ५०५) इस कसौटी पर सबसे अधिक स्वयं उनके ही निबन्ध खरे उतरते हैं। साहित्यिक विषयों पर समीक्षात्मक दृष्टि से लिखे गये उनके निबन्धों में पाश्चात्य जीवन-दर्शन और भारतीय जीवन-दृष्टि का समन्वय मिलता है। ईर्ष्या, क्रोध, भय, उत्साह, आदि मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे इनके निबन्ध उत्कृष्टतम निबन्धों की कोटि में आते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बाबू गुलाब राय, सियारामशरण गुप्त, नन्ददुलारे वाजपेयी, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि कुछ अन्य प्रतिनिधि निबन्धकार ऐसे हैं जिनके निबन्धों में साहित्य-धर्म और समाज के प्रश्नों पर आत्मीयता से विचार किया गया है। गद्य-काव्यात्मक निबन्धों की परम्परा में रायकृष्णदास और वियोगी हरि की रचनाएँ प्रतीकात्मक हैं। माखनलाल चतुर्वेदी के भावात्मक निबंधों में आध्यात्मिक प्रेम तथा राष्ट्रीयता का रंग है। डॉ० रघुवीर सिंह के 'बिखरे फूल' और 'शेष स्मृतियाँ' जैसे संग्रह इस दिशा में एक उपलब्धि है।

हिन्दी निबन्धों के उत्कर्षकाल के प्रतिनिधि और शीर्षस्थ निबन्धकार के रूप में हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम स्मरण किया जाता हैं। वस्तुत निबन्ध को इस ऊँचाई तक पहुँचाने का श्रेय द्विवेदीजी को है। उनके निबन्ध अपनी अतिशय आत्मीयता, शैली की सरस गम्भीरता तथा उदात्त मानववाद के कारण हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है। जैनेन्द्रकुमार अपने ढंग के एक ही निबन्धकार थे। आत्मीय और खुले-दिल से गम्भीर विषयों पर, प्रश्नोत्तर के रूप में विचार करने की इनकी शैली अत्यन्त रोचक है। विशुद्ध सर्जनात्मक उद्देश्य से लिखे जाने के कारण महादेवी वर्मा के संस्मरण, निबन्धों की सीमा-रेखा को स्पर्श करते हैं। 'अतीत के चलचित्र', और 'स्मृति की रेखाएँ' उनके सहज करुणासुलभ नारी-हृदय का प्रतिबिम्ब है। इसी क्रम में श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, भदन्त आनन्द कोशल्यायन आदि निबन्धकार आते हैं, जो अपने संस्मरणात्मक गद्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इलाचन्द्र जोशी साहित्यिक समस्याओं पर विवेचनात्मक निबन्ध लिखने में अधिक सफल हुए हैं। कुट्टियातन (अज्ञेय) के निबन्ध सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवेक्षण और सन्दर्भ-बहुलता के कारण अपने ढंग के अकेले हैं। प्रभाकर माचवे, गोपालप्रसाद व्यास आदि के निबन्धों की व्यंग्यमयी शैली में सहजता के साथ तीखापन भी है। मुक्तिबोध के निबन्ध एक आम आदमी के जीवन के संघर्ष को मूर्तिमान करते हैं। इसके अतिरिक्त रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, भगवतशरण उपाध्याय, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', रामानुजलाल, प्रभृति अनेकानेक निबन्धकारों के निबन्धों में निबन्ध का उत्कर्ष दिखायी देता है। इस प्रकार हिन्दी निबन्धों की यही भंगिमा और मुद्रा इस काल में मिली, वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अभूतपूर्व है। इनमें भारतीय जीवन और परम्परा के उदात्त तत्त्व संचित हुए हैं।

स्वतन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी में जो निवन्ध लिखे गये हैं, उनमें 'ईषत् मनोरंजन, ईषत् व्यायाम, ईषत् अभिज्ञता का चतुर्मुखी लालित्य दृष्टिगोचर होता है। नामवर सिंह, धर्मवीर भारती, ठाकुरप्रसाद सिंह, श्रीलाल शुक्ल, विट्ठलदास मोदी, रमेशकुन्तल मेघ, राजकमल चौधरी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शरद् जोशी, हरिशंकर परसाई के निबन्ध इनका सुन्दर उदाहरण है। यही कारण है कि, कहा जाता है कि 'ललित्य' ने पाण्डित्य पर जैसे आक्रमण कर दिया हो। पं० विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध इस युग के निबन्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं। व्यक्ति में समर्थ ऐसे उच्चकोटि के निबन्ध लिखनेवाले इन जैसे प्रतिभावान् निबन्धकार बहुत थोड़े हैं। इसी से आपको 'हिन्दी का आश्चर्य' भी कहा गया है। डॉ० नामवर सिंह के निबन्धों में लेखकों, राजनीतिज्ञों, गाँधीवादियों, काग़द का राज, अखबार, शिक्षा, पूँजीवाद पर तीखे व्यंग्य मिलते हैं। समस्याओं को ये मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने के पक्षपाती हैं। डॉ० धर्मवीर भारती के निबन्ध ललित भाषा और रोमाण्टिक शैली में 'कहनी-अनकहनी' सभी कुछ कह जाते हैं। कुबेरनाथ राय, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और पं० विद्यानिवास मिश्र की अगली कड़ी हैं। प्राचीन विषयों को नये सन्दर्भ में उपस्थित करना उनके निबन्धों की अपनी विशेपता है। श्री नारायण चतुर्वेदी, हरिशंकर परसाई, रवीन्द्रनाथ त्यागी और शरद् जोशी के अधिकांश निबन्ध व्यंग्यात्मक हैं। साथ ही, पत्र तथा डायरी-शैली में लिखे गये निबन्धों में पं० कमलापति त्रिपाठी की 'बन्दी को चेतना' तथा बच्चन के 'नीड़ का निर्माण फिर से' तथा 'क्या भूलूँ, क्या याद करूँ',—को हिन्दी-साहित्य में विशेष ख्याति मिली है।

इस प्रकार हिन्दी निबन्धों के माध्यम से इन निवन्धकारों ने प्रादुर्भावकाल से लेकर नव-संक्रमण-काल तक अनेक़ानेक स्रोतों से ग्रहण किये गये प्रभावों को बहुत कौशल के साथ हिन्दी के अपने स्वतन्त्र और विशिष्ट स्वर को मुखरित करने ही में विनियोजित किया है। अपने जीवन के कुल डेढ़ सौ वर्षों में ही हिन्दी-निबन्ध, संसार के किसी भी अन्य निबन्ध-साहित्य की तुलना में हेय नहीं रहा। सब मिलाकर हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निबन्धश्री

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सरदार पूर्णसिंह

[१८८१–१९३१ ई०]

सरदार पूर्णसिंह ने हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में कुल ६ निबन्ध लिखकर ही जितना यश अर्जन किया है, वह अन्य निबन्धकार सैकड़ों निबन्ध लिखकर भी न कर सके। इनका जन्म सन् १८८१ ई० में पंजाब के ऐबटाबाद जिले में हुआ था। अत्यन्त कुशाग्र एवं अध्यवसायी होने के कारण इण्टरमीडिएट पास करने के बाद ही राजकीय छात्रवृत्ति प्राप्त कर रसायनशास्त्र के विशेष अध्ययन हेतु ये जापान गये। वहीं स्वामी रामतीर्थ एवं उनके दर्शन से इनका साक्षात्कार हुआ और उसका इन पर बहुत अधिक प्रभाव भी पड़ा। वहाँ से लौटने पर देहरादून के फॉरेस्ट कॉलिज में अध्यापक हो गये और अध्ययन के साथ-ही-साथ मनन एवं लेखन में जुट गये। भारतीय तथा विदेशी दर्शन से इन्हें विशेष प्रेम था। उर्दू तथा पंजाबी साहित्य का भी इन्होंने अच्छा अध्ययन किया। जीवन के अंतिम दिनों में इन्हें बहुत कष्ट झेलना पड़ा। इनकी मृत्यु सन् १९३१ ई० में हुई।

भाव एवं विचार, शिल्प एवं रचना—प्रत्येक दृष्टि से इनके निबन्ध अद्वितीय हैं। निबन्धों में इनके अध्ययन, मनन, अनुभव एवं पाण्डित्य की गरिमा है। सफल वक्ता होने के कारण इनकी शैली में सजीवता, आवेशमयता एवं प्रवाह है। भाषा में लाक्षणिकता का पुट है। बीच-बीच में व्यंग्यात्मक दृष्टान्तों, उद्धरणों, कथाओं, सूचनाओं और उक्तियों के प्रयोग से भाषा रोचक एवं आकर्षक हो गयी है। भावों और विचारों के अनुकूल कहीं वाक्य छोटे, सरल एवं स्पष्ट और कहीं क्लिष्ट तथा अपेक्षाकृत बड़े हैं। अंग्रेजी के वाक्यों एवं शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। उर्दू, फारसी के शब्दों एवं मुहावरों का प्राचुर्य है। इस प्रकार इनकी भाषा, संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी उदार है और परिमार्जित एवं प्रौढ़ होते हुए भी सशक्त है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सच्ची वीरता

सच्चे वीर पुरुष धीर, गम्भीर और आजाद होते हैं। उनके मन की गम्भीरता और शान्ति समुद्र की तरह विशाल और गहरी या आकाश की तरह स्थिर और अचल होती है। वे कभी चंचल नहीं होते। रामायण में वाल्मीकिजी ने कुम्भकर्ण को गाढ़ी नींद में वीरता का एक चिह्न दिखलाया है। सच है, सच्चे वीरों की नींद आसानी से नहीं खुलती। ये सत्त्वगुण के क्षीर-समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको दुनिया की खबर ही नहीं होती। वे संसार के सच्चे परोपकारी होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के तख्ते को अपनी आँख की पलकों से हलचल में डाल देते हैं। जब ये शेर जागकर गर्जते हैं, तब सदियों तक इनकी आवाज की गूँज सुनायी देती रहती है और सब आवाजें बन्द हो जाती हैं। वीर की चाल की आहट कानों में आती रहती है और कभी मुझे और कभी तुझे मदमत्त करती है। कभी किसी की और कभी किसी की प्राण-सारंगी वीर के हाथ से बजने लगती है।

देखो, हरा की कंदरा में एक अनाथ, दुनिया से छिपकर, एक अजीब नींद सोता है। जैसे गली में पड़े हुए पत्थर की ओर कोई ध्यान नहीं देता, वैसे ही आम-आदमियों की तरह इस अनाथ को कोई न जानता था। एक उदारहृदया धन-सम्पन्ना स्त्री की वह नौकरी करता है। उसकी सांसारिक प्रतिष्ठा सिर्फ एक मामूली गुलाम की-सी है। मगर कोई ऐसा दैवी कारण हुआ जिससे इस अनजान और बेपहचान गुलाम की बारी आयी। उसकी निद्रा खुली। संसार पर मानो हजारों बिजलियाँ गिरीं। अरब के रेगिस्तान में बारूद की तरह आग लग गयी। इस वीर की आँखों की ज्वाला इन्द्रप्रस्थ से लेकर स्पेन तक प्रज्वलित हुई। उस अज्ञात और गुप्त हरा की कंदरा में सोनेवाले ने एक आवाज दी। कुल पृथ्वी भय से काँपने लगी। हाँ, जब पैगम्बर मुहम्मद ने 'अल्लाहू अकबर' का गीत गाया

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तब कुल संसार चुप हो गया। और, कुछ देर बाद प्रकृति उसकी आवाज की गूँज को सब दिशाओं में ले उड़ी। पक्षी 'अल्लाहू' गाने लगे और मुहम्मद के पैगाम को इधर-उधर ले उड़े। पर्वत उसकी वाणी को सुनकर पिघल पड़े और नदियाँ 'अल्लाहू, अल्लाहू' का अलाप करती हुई पर्वतों से निकल पड़ीं। जो लोग उसके सामने आये वे इसके दास बन गये। चन्द्र और सूर्य ने बारी-बारी से उठकर सलाम किया। इस वीर का बल देखिये कि सदियों के बाद भी संसार के लोगों का बहुत-सा हिस्सा उसके पवित्र नाम पर जीता है और अपने छोटे-से जीवन को अति तुच्छ समझकर अनदेखे, अनजान, केवल सुने-सुनाये नाम पर कुर्बान कर देने को अपने जीवन का सबसे उत्तम फल समझता है।

सत्त्वगुण के समुद्र में जिनका अंतःकरण निमग्न हो गया वही महात्मा, साधु और वीर हैं। ये लोग अपने क्षुद्र जीवन का परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिए संसार के कुल अगम्य मार्ग साफ हो जाते हैं। आकाश उनके ऊपर बादलों के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राजतिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुष हैं। हीरे और लाल से जड़े हुए, सोने और चाँदी से जर्क-वर्क सिंहासन पर बैठनेवाले दुनिया के राजों को तो, जो गरीब किसानों की कमाई हुई दौलत पर पिंडोपजीवी होते हैं, लोगों ने अपनी मूर्खता से वीर बना रखा है। यह जरी, मखमल और जेवरों से लदे हुए मांस के पुतले तो हरदम काँपते रहते हैं। इन्द्र की तरह ऐश्वर्यवान् और बलवान् होने पर भी दुनिया के ये छोटे 'जार्ज' बड़े कायर होते हैं। क्यों न हों, इनकी हुकूमत लोगों के दिलों पर नहीं होती। दुनिया के राजाओं के बल की दौड़ लोगों के शरीर तक है। हाँ, जब कभी किसी अकबर का राज लोगों के दिलों पर होता है तब इन कायरों की बस्ती में मानो एक सच्चा वीर पैदा हुआ।

एक बागी गुलाम और एक बादशाह की बातचीत हुई। यह कैदी गुलाम दिल से आजाद था। बादशाह ने कहा—"मैं तुमको अभी जान से मार डालूँगा। तुम क्या कर सकते हो?" गुलाम बोला—"हाँ, मैं फाँसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पर चढ़ जाऊँगा; पर तुम्हारा तिरस्कार तब भी कर सकता हूँ।" बस, इस गुलाम ने दुनिया के बादशाहों के बल की हद दिखला दी। बस इतना ही जोर और इतनी ही शेखो ये झूठे राजे शरीर को दुःख देकर और मार-पीटकर अनजान लोगों को डराते हैं। और भोले लोग उनसे डरते रहते हैं। चूँकि सब लोग शरीर को अपने जीवन का केन्द्र समझते हैं, इसलिए जहाँ किसी ने उनके शरीर पर जरा जोर से हाथ लगाया, वहीं वे मारे डर के अधमरे हो जाते हैं; शरीर-रक्षा की गरज से ये लोग इन राजाओं की ऊपरी मन से पूजा करते हैं। जैसे ये राजा वैसा उनका सत्कार! जिनका बल शरीर को जरा-सी रस्सी से लटकाकर मार देने ही भर का है, उनका और उन बलवान् और सच्चे राजाओं का क्या मुकाबला जिनका सिंहासन लोगों के हृदय-कमल की पँखड़ियों पर है? सच्चे राजा अपने प्रेम के जोर से लोगों के दिलों को सदा के लिए बाँध देते हैं। दिलों पर हुकूमत करनेवाली फौज, तोप, बन्दूक आदि के बिना ही वे शाहंशाह-जमाना होते हैं। ऐसे वीर पुरुषों का लक्षण अमेरिका के ऋषि इमरसन ने इस तरह लिखा है —

"The hero is a mind of such balance that no disturbances can shake his will, but pleasantly, and as if it were merrily, he advances to his own music, alike in frightful alarms and in the tipsy mists of univerasl dissoluteness."[१]

मंसूर ने अपनी मौज में आकर कहा कि "मैं खुदा हूँ।" दुनिया के बादशाह ने कहा—"यह काफिर है।" मगर मंसूर ने अपने कलाम को बन्द न किया। पत्थर मार-मारकर दुनिया ने उसके शरीर की बुरी दशा की, परन्तु उस मर्द के हर बोल से यही शब्द निकले—"अनलहक"—

१. वीर का मस्तिष्क इतना सन्तुलित होता है कि कोई भी बाधा उसकी इच्छा-शक्ति को डिगा नहीं सकती, आनन्दपूर्वक हँसते-खेलते वह अपनी ही धुन में मस्त भयानक चेतावनी और मादक विश्वव्यापी विषयासक्ति के बीच समान रूप से निर्लिप्त आगे बढ़ा चला जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

"अहं ब्रह्मास्मि"—"मैं ही ब्रह्म हूँ"। मंसूर का सूली पर चढ़ना उसके लिए सिर्फ खेल था। बादशाह ने समझा कि मंसूर मारा गया।

शम्स तबरेज को भी ऐसा ही काफिर समझकर बादशाह ने हुक्म दिया कि इसकी खाल उतार दो। शम्स ने खाल उतारी और बादशाह को, दरवाजे पर आये हुए कुत्ते की तरह भिखारी समझकर, वह खाल खाने के लिए दे दी। देकर वह अपनी यह गजल बराबर गाता रहा—"भीख माँगनेवाला तेरे दरवाजे पर आया है; ऐ शाहेदिल! कुछ इसको दे दो।" खाल उतारकर फेंक दी! वाह रे सत्पुरुष!

भगवान् शंकर जब गुजरात की तरफ यात्रा कर रहे थे तब एक कापालिक हाथ जोड़े सामने आकर खड़ा हुआ। भगवान् ने कहा—"माँग, क्या माँगता है?" उसने कहा—"हे भगवान्! आजकल के राजा लोग बड़े कंगाल हैं। उनसे अब हमें दान नहीं मिलता। आप ब्रह्मज्ञानी और सबसे बड़े दानी हैं। इसलिए मैं आपके पास आया हूँ। आप अपनी कृपा से मुझे अपना सिर दान करें जिसकी भेंट चढ़ाकर मैं अपनी देवी को प्रसन्न करूँगा और अपना यज्ञ पूरा करूँगा।" भगवान् ने मौज में आकर कहा—"अच्छा, कल यह सिर उतारकर ले जाना और काम सिद्ध कर लेना।"

एक दफे दो वीर पुरुष अकबर के दरबार में आये। वे लोग रोजगार की तलाश में थे। अकबर ने कहा—"अपनी-अपनी वीरता का सबूत दो।" बादशाह ने कैसी मूर्खता की। वीरता का भला वे क्या सबूत देते? परन्तु, दोनों ने तलवारें निकाल लीं और एक दूसरे के सामने कर उनकी तेज धार पर दौड़ गये और वहीं राजा के सामने क्षणभर में अपने खून में ढेर हो गये।

ऐसे दैवी वीर रुपया-पैसा, माल, धन का दान नहीं दिया करते। जब वे दान देने की इच्छा करते हैं तब अपने आपको हवन कर देते हैं। बुद्ध महाराज ने जब एक राजा को मृग मारते देखा तब अपना शरीर आगे कर दिया जिसमें मृग बच जाय, बुद्ध का शरीर चाहे चला जाय। ऐसे लोग कभी बड़े मौकों का इन्तजार नहीं करते, छोटे मौकों को ही बड़ा बना देते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जब किसी का भाग्योदय हुआ और उसे जोश आया तब जान लो कि संसार में एक तूफान आ गया। उसकी चाल के सामने फिर कोई रुकावट नहीं आ सकती। पहाड़ों की पसलियाँ तोड़कर ये लोग हवा के बगोले की तरह निकल जाते हैं। उनके बल का इशारा भूचाल देता है और उनके दिल की हरकत का निशान समुद्र का तूफान देता है। कुदरत की और कोई ताकत उसके सामने फड़क नहीं सकती। सब चीजें थम जाती हैं। विधाता भी साँस रोककर उनकी राह को देखता है। यूरोप में जब रोम के पोप का जोर बहुत बढ़ गया था तब उसका मुकाबला कोई भी बादशाह न कर सकता था। पोप की आँखों के इशारे से यूरोप के बादशाह तख्त से उतार दिये जा सकते थे। पोप का सिक्का यूरोप के लोगों पर ऐसा बैठ गया था कि उसकी बात को लोग ब्रह्म-वाक्य से भी बढ़कर समझते थे और पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। लाखों ईसाई साधु-संन्यासी और यूरोप के तमाम गिर्जे पोप के हुक्म की पाबन्दी करते थे। जिस तरह चूहे की जान बिल्ली के हाथ में होती है उसी तरह पोप ने यूरोपवासियों की जान अपने हाथ में कर ली थी। इस पोप का बल और आतंक बड़ा भयानक था। मगर जर्मनी के एक छोटे-से मन्दिर के एक कंगाल पादरी की आत्मा जल उठी। पोप ने इतनी लीला फैलायी थी कि यूरोप में स्वर्ग और नरक के टिकट बड़े-बड़े दामों पर बिकते थे। टिकट बेच-बेचकर यह पोप बड़ा विषयी हो गया था। लूथर के पास जब टिकट बिक्री होने को पहुँचे तब उसने पहले एक चिट्ठी लिखकर भेजी कि ऐसे काम झूठे तथा पापमय हैं और बन्द होने चाहिए। पोप ने इसका जवाब दिया—"लूथर! तुम इस गुस्ताखी के बदले आग में जिन्दा जला दिये जाओगे।" इस जवाब से लूथर की आत्मा की आग और भी भड़की। उसने लिखा—"अब मैंने अपने दिल में निश्चय कर लिया है कि तुम ईश्वर के तो नहीं, किन्तु शैतान के प्रतिनिधि हो। अपने आपको ईश्वर के प्रतिनिधि कहनेवाले मिथ्यावादी! जब मैंने तुम्हारे पास सत्यार्थ का सन्देश भेजा तब तुमने आग और जल्लाद के नामों से जवाब दिया। इससे साफ प्रतीत होता है कि तुम शैतान की दलदल पर खड़े हो, न कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सत्य की चट्टान पर। यह लो तुम्हारे टिकटों के गट्टे (Emparchmented Lies) मैंने आग में फेंके! जो मुझे करना था मैंने कर दिया; जो अब तुम्हारी इच्छा हो करो। मैं सत्य की चट्टान पर खड़ा हूँ।" इस छोटे-से संन्यासी ने वह तूफान यूरोप में पैदा कर दिया जिसकी एक लहर से पोप का सारा जंगी बेड़ा चकनाचूर हो गया।

महाराज रणजीतसिंह ने फौज से कहा--"अटक के पार जाओ।" अटक चढ़ी हुई थी और भयङ्कर लहरें उठ रही थीं। जब फौज ने कुछ उत्साह जाहिर न किया तब उस वीर को जरा जोश आया। महाराज ने अपना घोड़ा दरिया में डाल दिया। कहा जाता है कि अटक सूख गयी और सब पार निकल गये।

दुनिया में जंग के सब सामान जमा हैं। लाखों आदमी मरने-मारने को तैयार हो रहे हैं। गोलियाँ पानी की बूँदों की तरह मूसलाधार बरस रही हैं। यह देखो, वीर को जोश आया। उसने कहा--"हाल्ट" (ठहरो)। तमाम फौज निःस्तब्ध होकर सकते की हालत में खड़ी हो गयी। एल्प्स के पहाड़ों पर फौज ने चढ़ना ज्योंही असम्भव समझा, त्योंही वीर ने कहा--"एल्प्स है ही नहीं"। फौज को निश्चय हो गया कि एल्प्स है ही नहीं और सब लोग पार हो गये।

एक भेड़ चरानेवाली और सतोगुण में डूबी हुई युवती कन्या के दिल में जोश आते ही कुल फ्रांस एक भारी शिकस्त से बच गया।

अपने आपको हर घड़ी और हर पल महान् से भी महान् बनाने का नाम वीरता है। वीरता के कारनामे तो एक गौण बात है। असल वीर तो इन कारनामों को अपनी दिनचर्या में लिखते भी नहीं। दरख्त तो जमीन से रस-ग्रहण करने में लगा रहता है। उसे यह ख्याल ही नहीं होता कि मुझमें कितने फल या फूल लगेंगे। उसका काम तो अपनेआप को सत्य में रखना है--सत्य को अपने अन्दर कूट-कूटकर भरना है और अन्दर-ही-अन्दर बढ़ना है। उसे उस चिन्ता से क्या मतलब कि कौन मेरे फल खायेगा या मैंने कितने फल लोगों को दिये।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वीरता का विकास नाना प्रकार से होता है। कभी तो उसका विकास लड़ने-मरने में, खून बहाने में, तलवार-तोप के सामने जान गँवाने में होता है; कभी प्रेम के मैदान में उसका झंडा खड़ा होता है। कभी साहित्य और संगीत में वीरता खिलती है। कभी जीवन के गूढ़तत्त्व और सत्य की तलाश में बुद्ध जैसे राजा विरक्त न [?] होकर वीर हो जाते हैं। कभी किसी आदर्श पर और कभी किसी पर वीरता अपना फरहरा लहराती है। परन्तु वीरता एक प्रकार का इलहाम (inspiration) है। जब कभी इसका विकास हुआ तभी एक नया कमाल नजर आया; एक नया जलाल पैदा हुआ; एक नयी रौनक, एक नया रंग, एक नयी बहार, एक नयी प्रभुता संसार में छा गयी। वीरता हमेशा निराली और नयी होती है। नयापन भी वीरता का एक खास रंग है। हिन्दुओं के पुराणों का वह आलङ्कारिक खयाल, जिससे पुराणकारों ने ईश्वरावतारों को अजीब-अजीब और भिन्न-भिन्न लिबास दिये हैं, सच्ची मालूम होती है; क्योंकि वीरता का एक विकास दूसरे विकास से कभी किसी तरह मिल नहीं सकता।

वीरता की कभी नकल नहीं हो सकती; जैसे मन की प्रसन्नता कभी कोई उधार नहीं ले सकता। वीरता देश-काल के अनुसार संसार में जब कभी प्रकट हुई तभी एक नया स्वरूप लेकर आयी, जिसके दर्शन करते ही सब लोग चकित हो गये—कुछ बन न पड़ा और वीरता के आगे सिर झुका दिया।

जापानी वीरता की मूर्ति पूजते हैं। इस मूर्ति का दर्शन वे चेरी के फूल (Cherry Flower) की शान्त-हँसी में करते हैं। क्या ही सच्ची और कौशलमयी पूजा है! वीरता सदा जोर से भरा हुआ ही उपदेश नहीं करती। वीरता कभी-कभी हृदय की कोमलता का भी दर्शन कराती है। ऐसी कोमलता देखकर सारी प्रकृति कोमल हो जाती है; ऐसी सुन्दरता देखकर लोग मोहित हो जाते हैं। जब कोमलता और सुन्दरता के रूप में वह दर्शन देती है तब चेरी-फूल से भी ज्यादा नाजुक और मनोहर होती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। जिस शख्स ने यूरोप को 'क्रूसेडज्' (Crusades) के लिए हिला दिया वह उन सबसे बड़ा वीर था जो लड़ाई में लड़े थे। इस पुरुष में वीरता ने आँसुओं और आहों-जारियों का लिबास लिया। देखो, एक छोटा-सा मामूली आदमी यूरोप में जाकर रोता है कि हाय, हमारे तीर्थ हमारे वास्ते खुले नहीं और पालिस्टन के राजा यूरोप के यात्रियों को दिक करते हैं। इस आँसूभरी अपील को सुनकर सारा यूरोप उसके साथ रो उठा। यह आला दरजे की वीरता है।

नैटिंगेल के साये को बीमार लोग सब दवाइयों से उत्तम समझते थे। उसके दर्शनों ही से कितने ही बीमार अच्छे हो जाते थे। वह आले दर्जे की सच्ची परिन्द है जो बीमारों के सिरहाने खड़ी होकर दिन-रात गरीबों की निष्काम सेवा करती है और गन्दे जख्मों को जरूरत के वक्त अपने मुख से चूसकर साफ करती है। लोगों के दिलों पर ऐसे प्रेम का राज्य अटल है। यह वीरता पर्दानशीन हिन्दुस्तानी औरत की तरह चाहे कभी दुनिया के सामने न आवे, इतिहास के वर्कों के काले हर्फों में न आये, तो भी संसार ऐसे ही बल से जीता है।

बीर पुरुष का दिल सबका दिल हो जाता है। उसका मन सबका मन हो जाता है। उसके ख्याल सबके ख्याल हो जाते हैं। सबके संकल्प उसके संकल्प हो जाते हैं। उसका बल सबका बल हो जाता है। वह सबका और सब उसके हो जाते हैं।

वीरों के बनाने के कारखाने कायम नहीं हो सकते। वे तो देवदार के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य में खुद-ब-खुद पैदा होते हैं और विना किसी के पानी दिये, विना किसी के दूध पिलाये, बिना किसी के हाथ लगाये, तैयार होते हैं। दुनिया के मैदान में अचानक ही सामने आकर वे खड़े हो जाते हैं, उनका सारा जीवन अन्तर-ही-अन्तर होता है। बाहर तो जवाहिरात की खानों की ऊपरी जमीन की तरह कुछ भी दृष्टि में नहीं आता। वीर की जिन्दगी मुश्किल से कभी-कभी बाहर नजर आती है नहीं तो उसका स्वभाव छिपे रहने का है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

"I was a gem concealed,
Me my burning ray revealed"[१]

(वह लाल गुदड़ियों के भीतर छिपा रहता है।) कन्दराओं में, गारों में, छोटी-छोटी झोपड़ियों में बड़े-बड़े वीर महात्मा छिपे रहते हैं। पुस्तकों और अखबारों को पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइंग-हॉल के वीर (Drawing Hall Knights) पैदा होते हैं। उनकी वीरता अनजान लोगों से अपनी स्तुति सुनने तक खतम हो जाती है। असली वीर तो दुनिया की बनावट और लिखावट के मखौलों के लिए नहीं जीते।

"It is not in your markets that the heroes carry their blood too."

"I enjoy my own freedom at the cost of my own reputation."[२]

हर दफे दिखाव और नाम की खातिर छाती ठोंककर आगे बढ़ना और फिर पीछे हटना परले दर्जे की बुजदिली है। वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक जरा-सी चीज है। वह सिर्फ एक बार के लिए काफी है। मानो इस बन्दूक में एक ही गोली है। हाँ, कायर पुरुष इसको बड़ा ही कीमती और कभी न टूटनेवाला हथियार समझते हैं। हर घड़ी आगे बढ़कर और यह दिखाकर कि हम बड़े हैं, वे फिर पीछे इस गरज से हट जाते हैं कि उनका अनमोल जीवन किसी और भी उत्तम काम के लिए बच जाय। बादल गरज-गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं, परन्तु बरसनेवाले बादल जरा देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं।

कायर पुरुष कहते हैं--"आगे बढ़े चलो।" वीर कहते हैं--"पीछे हटे चलो।" कायर कहते हैं--"उठाओ तलवार।" वीर कहते हैं--"सिर

---

१. मैं एक छिपा हुआ रत्न था; मुझे मेरी देदीप्यमान किरणों ने प्रकट किया।
२. वीरों के रक्त का मूल्य आपके बाजारों में नहीं लग सकता। अपने सम्मान का बलिदान कर मैं आत्म-स्वातंत्र्य का आनन्द भोगता हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आगे करो।" वीर का जीवन तो प्रकृति ने अपनी शक्तियों को एकत्र संचय (conserve) करने को बनाया है। सम्भव है कि और पदार्थ उसने अपनी शक्तियों (dessipate) को फिजूल खो देने के लिए बनाये हों। मगर वीर पुरुष का शरीर कुदरत की कुल ताकतों का समूह (conservation) है। कुदरत का यह मरकज हिल नहीं सकता। सूर्य का चक्कर हिल जाय तो कोई बात नहीं, परन्तु वीर के दिल में जो दैवी-केन्द्र (Divine Centre) है, वह अचल है। कुदरत के और पदार्थों की पालिसी चाहे आगे बढ़ने की हो, अर्थात् अपने बल को नष्ट करने की हो, मगर वीरों की पालिसी बल को हर तरह इकट्ठा करने और बढ़ाने की होती है। वीर तो अपने अन्दर ही 'मार्च' करते हैं। क्योंकि हृदयाकाश के केन्द्र में खड़े होकर वे कुल संसार को हिला सकते हैं।

बेचारी मरियम का लाड़ला, खूबसूरत जवान, अपने मद में मतवाला और अपने आपको शाहंशाह हकीकी कहनेवाला ईसामसीह क्या उस समय कमजोर मालूम होता है जब भारी सलीब उठाकर कभी गिरता, कभी जख्मी होता और कभी बेहोश हो जाता है? कोई पत्थर मारता है, कोई ढेला मारता है, कोई थूकता है, मगर उस मर्द का दिल नहीं हिलता। कोई क्षुद्र हृदय और कायर होता तो अपनी बादशाहत के बल की गुत्थियाँ खोल देता, अपनी ताकत को जायल कर देता और सम्भव है कि एक निगाह से उस सल्तनत के तख्ते को उलट देता और मुसीबत को टाल देता, परन्तु जिसको हम मुसीबत जानते हैं उसको वह मखौल समझता था। "सूली मुझे है सेज पिया की, सोने दो मीठी-मीठी नींद है आती।" अमर ईसा को भला दुनिया के विषय-विकार में गर्क लोग क्या जान सकते थे? अगर चार चिड़ियाँ मिलकर मुझे फाँसी का हुक्म सुना दें और मैं उसे सुनकर रो दूँ या डर जाऊँ तो मेरा गौरव चिड़ियों से भी कम हो जाय। जैसे चिड़ियाँ मुझे फाँसी देकर उड़ गयीं वैसे ही बादशाह और बादशाहतें आज खाक में मिल गयी हैं। सचमुच ही वह छोटा-सा बाबा लोगों का सच्चा बादशाह है। चिड़ियों और जानवरों की कचहरियों के फैसलों से जो डरते या मरते हैं वे मनुष्य नहीं हो सकते। राणाजी ने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जहर के प्याले से मीराबाई को डराना चाहा। मगर वाह री सच्चाई! मीरा ने इस जहर को भी अमृत मानकर पी लिया। वह शेर और हाथी के सामने किये गये [की गयी]। मगर वाह रे प्रेम! मस्त हाथी और शेर ने देवी के चरणों की धूल को अपने मस्तक पर मला और अपना रास्ता लिया। इस वास्ते वीर पुरुष आगे नहीं, पीछे जाते हैं। अन्दर ध्यान करते है। मारते नहीं, मरते हैं।

वह वीर क्या जो टीन के बर्तन की तरह झट गरम और झट ठंढा हो जाता है। सदियों नीचे आग जलती रहे तो भी शायद ही वीर गरम हो और हजारों वर्ष बर्फ उस पर जमती रहे तो भी क्या मजाल जो उसकी वाणी तक ठंढी हो। उसे खुद गरम और सर्द होने से क्या मतलव? कारलायल को जो आजकल की सभ्यता पर गुस्सा आया तो दुनिया में एक नयो शक्ति और एक नयी जवान पैदा हुई। कारलायल अँगरेज जरूर है; पर उसकी वोली सवसे निराली है। उसके शब्द मानो आग की चिनगारियाँ हैं जो आदमी के दिलों में आग-सी लगा देती हैं। सब कुछ वदल जाय मगर कारलायल की गरमी कभी कम न होगी। यदि हजार वर्ष संसार में दुखड़े और दर्द रोये जायँ तो भी वुद्धि की शान्ति और दिल को ठंढक एक दर्जा भी इधर-उधर न होगी। यहाँ आकर फिजिक्स (physics) के नियम रो देते हैं। हजारों वर्ष आग जलती रहे तो भी थर्मामीटर जैसा का तैसा ही रहेगा। वावर के सिपाहियों ने और लोगों के साथ गुरु नानक को भी बेगार में पकड़ लिया। उनके सिर पर वोझ रखा और कहा—"चलो।" आप चल पड़े। दौड़-धूप, वोझ, मुसीबत, बेगार में पकड़ी हुई स्त्रियों का रोना, शरीफ लोगों का दुःख, गाँव के गाँव का जलना—सव किस्म की दुःखदायी वातें हो रही हैं। मगर किसी का कुछ असर नहीं हुआ। गुरु नानक ने अपने साथी मर्दाना से कहा—"मर्दाना, सारंगी वजाओ, हम गाते हैं।" उस भीड़ में सारंगी वज रही है और आप गा रहे हैं। वाह री शान्ति!

अगर कोई छोटा-सा वच्चा नैपोलियन के कन्धे पर चढ़कर उसके सिर के वाल खींचे तो क्या नैपोलियन इसको अपनी बेइज्जती समझकर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उस बालक को जमीन पर पटक देगा, ताकि लोग उसको बड़ा वीर कहें ? इसी तरह सच्चे वीर, जब उनके बाल दुनिया की चिड़ियाँ नोचती हैं तब कुछ परवा नहीं करते। क्योंकि उनका जीवन आस-पासवालों के जीवन से निहायत ही बढ़-चढ़कर, ऊँचा और बलवान् होता है। भला ऐसी बातों पर वीर कब हिलते हैं। जब उनकी मौज आयी तभी मैदान उनके हाथ है।

जापान के एक छोटे-से गाँव की एक झोपड़ी में छोटे कद का एक जापानी रहता था। उसका नाम ओशियो था। यह पुरुष बड़ा अनुभवी और ज्ञानी था। उसे दीन और दुनिया से कुछ सरोकार न था। बड़े कड़े मिजाज का, स्थिर, धीर और अपने खयालात के समुद्र में डूबा रहनेवाला पुरुष था। आस-पास रहनेवाले लोगों के लड़के इस साधु के पास आया-जाया करते थे और वह उनको मुफ्त पढ़ाता था। जो कुछ मिल जाता था वही खा लेता था। दुनिया की व्यावहारिक दृष्टि से वह एक किस्म का निखट्टू था। क्योंकि इस पुरुष ने संसार का कोई बड़ा काम नहीं किया था। उसकी सारी उम्र शान्ति और सतोगुण में गुजर गयी थी। लोग समझते थे कि वह एक मामूली आदमी है। एक दफे इत्तिफाक से दो-तीन फसलों के न होने से इस फकीर के आस-पास के मुल्क में दुर्भिक्ष पड़ गया। दुर्भिक्ष बड़ा भयानक था। लोग बड़े दुःखी हुए। लाचार होकर इस नंगे, कंगाल फकीर के पास मदद माँगने आये। उसके दिल में कुछ खयाल हुआ। उनकी मदद करने को वह तैयार हो गया। पहले वह ओसाका नामक शहर के बड़े-बड़े धनाढ्य और भद्र पुरुषों के पास गया और उनसे मदद माँगी। इन भलेमानसों ने वादा तो किया, पर उसे पूरा न किया। ओशियो फिर उनके पास कभी न गया। उसने बादशाह के वजीरों को पत्र लिखे कि इन किसानों को मदद देनी चाहिए। परन्तु बहुत दिन गुजर जाने पर भी जवाब न आया। ओशियो ने अपने कपड़े और किताबें नीलाम कर दीं। जो कुछ मिला, मुट्ठी भरकर उन आदमियों की तरफ फेंक दिया। भला इससे क्या हो सकता था ? परन्तु, ओशियो का दिल इससे पूर्ण शिवरूप हो गया। यहाँ इतना जिक्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर देना काफी होगा कि जापान के लोग अपने बादशाह को पिता की तरह पूजते हैं। उनके आत्मा की यह एक आदत है। ऐसी कौम के हजारों आदमी इस वीर के पास जमा हैं। ओशियो ने कहा—"सब लोग हाथ में बाँस लेकर तैयार हो जाओ और बगावत का झंडा खड़ा कर दो।" कोई भी चूँ व चरा न कर सका। बगावत का झंडा खड़ा हो गया। ओशियो एक बाँस पकड़कर सबके आगे किओटो जाकर बादशाह के किले पर हमला करने के लिए चला। इस फकीर जनरल की फौज की चाल को कौन रोक सकता था? जब शाही किले के सरदार ने देखा तब उसने रिपोर्ट की और आज्ञा माँगी कि ओशियो और उसकी बागी फौज पर बन्दूकों की बाढ़ छोड़ी जाय? हुक्म हुआ कि "नहीं, ओशियो तो कुदरत के सब्ज वर्कों को पढ़नेवाला है। वह किसी खास बात के लिए चढ़ाई करने आया होगा। उसको हमला करने दो और आने दो।" जब ओशियो किले में दाखिल हुआ तब वह सरदार इस मस्त जनरल को पकड़कर बादशाह के पास ले गया। उस वक्त ओशियो ने कहा—"वे राजभंडार, जो अनाज से भरे हुए हैं, गरीबों की मदद के लिए क्यों नहीं खोल दिये जाते"?

जापान के राजा को डर-सा लगा। एक वीर उसके सामने खड़ा था, जिसकी आवाज में दैवीशक्ति थी। हुक्म हुआ कि शाहीभंडार खोल दिये जायँ और सारा अन्न दरिद्र किसानों को बाँटा जाय। सब सेना और पुलिस धरी की धरी रह गयी। मंत्रियों के दफ्तर लगे के लगे रहे। ओशियो ने जिस काम पर कमर बाँधी उसको कर दिखाया। लोगों की विपत्ति कुछ दिनों के लिए दूर हो गयी। ओशियो के हृदय की सफाई, सचाई और दृढ़ता के सामने भला कौन ठहर सकता था? सत्य की सदा जीत होती है। यह भी वीरता का एक चिह्न है। रूस के जार ने सब लोगों को फाँसी दे दी। किन्तु टॉल्सटाय को वह दिल से प्रणाम करता था; उनकी बातों का आदर करता था। जय वहीं होती है जहाँ हृदय की पवित्रता और प्रेम है। दुनिया किसी कूड़े के ढेर पर नहीं खड़ी कि जिस मुर्गे ने बाँग दी वही सिद्ध हो गया। दुनिया धर्म और अटल आध्यात्मिक नियमों पर खड़ी है। जो अपने आपको उन नियमों के साथ अभेद करके खड़ा हुआ वह विजयी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो गया। आजकल लोग कहते हैं—काम करो, काम करो। पर हमें तो ये बातें निरर्थक मालूम होती हैं। पहले काम करने का बल पैदा करो—अपने अन्दर-ही-अन्दर वृक्ष की तरह बढ़ो। आजकल भारतवर्ष में परोपकार करने का बुखार फैल रहा है। जिसको १०५ डिग्री का यह बुखार चढ़ा वह आजकल के भारतवर्ष का ऋषि हो गया। आजकल भारतवर्ष में अखबारों की टकसाल में गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं। जहाँ किसी ने एक-दो काम किये और आगे बढ़कर छाती दिखायी तहाँ हिन्दुस्तान के सारे अखबारों ने 'हीरो' (Hero) की पुकार मचायी। बस एक नया वीर तैयार हो गया। यह तो पागलपन की लहरें हैं। **अखबार लिखनेवाले मामूली सिक्के के मनुष्य होते हैं। उनकी स्तुति और निन्दा पर क्यों मरे जाते हो? अपने जीवन को अखबारों के छोटे-छोटे पैराग्राफों के ऊपर क्यों लटका रहे हो?** क्या यह सच नहीं कि हमारे आजकल के वीरों की जानें अखबारों के लेखों में हैं? जो इन्होंने रंग बदला तो हमारे वीरों के रंग बदले, ओठ खुश्क हुए और वीरता की आशाएँ टूट पड़ीं।

प्यारे, अन्दर के केन्द्र की ओर अपनी चाल उलटो और इस दिखावटी और बनावटी जीवन की चंचलता में अपने आपको न खो दो। वीर नहीं तो वीरों के अनुगामी हो और वीरता के काम नहीं तो धीरे-धीरे अपने अन्दर वीरता के परमाणुओं को जमा करो।

जब हम कभी वीरों का हाल सुनते हैं तब हमारे अन्दर भी वीरता की लहरें उठती हैं और वीरता का रंग चढ़ जाता है। परन्तु वह चिर-स्थायी नहीं होता। इसका कारण सिर्फ यही है कि हममें भीतर दृढ़ता का मलवा (sut) तो होता नहीं। सिर्फ खयाली महल उसके दिखलाने के लिए बनाना चाहते हैं। टीन के बरतन का स्वभाव छोड़कर अपने जीवन के केन्द्र में निवास करो और सच्चाई की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े हो जाओ। अपनी जिन्दगी किसी और के हवाले करो ताकि जिन्दगी के बचाने की कोशिशों में कुछ भी समय जाया न हो। इसलिए बाहर की सतह को छोड़कर जीवन की अन्दर की तहों में घुस जाओ; तब नये रंग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

खुलेंगे। नफरत और द्वैतदृष्टि छोड़ो, रोना छूट जायगा। प्रेम और आनन्द से काम लो; शान्ति की वर्षा होने लगेगी और दुखड़े दूर हो जायेंगे। जीवन के तत्त्व का अनुभव करके चुप हो जाओ; धीर और गम्भीर हो जाओगे। वीरों की, फकीरों की, पीरों की यह कूक है—हटो पीछे, अपने अन्दर जाओ, अपने आपको देखो, दुनिया और की और हो जायेगी। अपनी आत्मिक उन्नति करो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

[१८८४–१९४१ ई०]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उन समर्थ आलोचकों और निवन्धकारों में हैं, जिनका नाम पूरे एक युग का पर्याय वन जाता है। इनका जन्म वस्ती जिले के अगौना ग्राम में सन् १८८४ ई० की आश्विन-पूर्णिमा को हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा का श्रीगणेश संस्कृत से हुआ। उर्दू-फारसी का अध्ययन इन्हें पिता की रुचि के कारण करना पड़ा। हिन्दी की ओर इनका अनुराग बचपन से ही था। इस प्रकार इन्होंने स्वाध्याय से ही अनेक भाषाओं पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया। कॉलेज में एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। प्रारम्भ में कुछ दिनों तक मिर्जापुर के मिशन स्कूल में अध्यापन कार्य भी किया। सं० १९६५ में 'नागरी-प्रचारिणी' सभा के निमन्त्रण पर 'हिन्दी शब्द-सागर' के सहकारी सम्पादक होकर काशी आये। यहाँ रहकर इन्होंने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' और सभा के लिए अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में ये हिन्दी के प्राध्यापक तथा बाद में जीवन-पर्यन्त हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य करते रहे। २ फरवरी, सन् १९४१ ई० को हृदयगति रुक जाने से इनका देहावसान हो गया।

शुक्लजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। आप एक साथ उद्भट विद्वान, श्रेष्ठ समालोचक, सिद्धहस्त-निवन्धकार, गम्भीर लेखक एवं सुकवि थे। हिन्दी-निवन्ध के विकास में शुक्लजी का योगदान अक्षुण्ण है। इनके निवन्धों का संग्रह 'चिन्तामणि' भाग १ और २ के रूप में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ पर प्रयाग, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से इन्हें १२०० रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुका है। चिन्तामणि, भाग २ में इनके साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी लम्बे निवन्ध संगृहीत हैं।

इनकी निवन्ध-शैली में विचारात्मकता एवं विवेचनात्मकता के साथ भावात्मकता भी है। संयत हास्य एवं चुटीले व्यंग्य इनके निवन्धों की अपनी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विशेषता है। भाषा प्रौढ़, तत्सम-प्रधान एवं परिमार्जित है। शब्द-योजना इतनी सुगठित है कि एक भी शब्द इधर-उधर होने से पूरा का पूरा वाक्य लड़खड़ा जाता है। इस कारण आपकी शैली को समास-शैली कहा गया है। निरर्थक शब्दों का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। पाण्डित्य की गम्भीरता एवं व्यक्तित्व की सरलता का विलक्षण समन्वय है। मौलिकता उनकी निबन्ध-शैली का प्राण है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लोकधर्म

कर्म, ज्ञान और उपासना—लोकधर्म के ये तीन अवयव जन-समाज की स्थिति के लिए बहुत प्राचीनकाल से भारत में प्रतिष्ठित हैं। मानव-जीवन की पूर्णता इन तीनों के मेल के बिना नहीं हो सकती। पर देश-काल के अनुसार कभी किसी अवयव की प्रधानता रही, कभी किसी की। यह प्रधानता लोक में जब इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरे अवयवों की ओर लोक की प्रवृत्ति का अभाव-सा होने लगता है, तब साम्य स्थापित करने के लिए, शेष अवयवों की ओर जनता को आकर्षित करने के लिए कोई-न-कोई महात्मा उठ खड़ा होता है। एक बार जब कर्म-काण्ड की प्रबलता हुई तब याज्ञवल्क्य के द्वारा उपनिषदों के ज्ञान-काण्ड की ओर लोग प्रवृत्त किये गये। कुछ दिनों में फिर कर्म-काण्ड प्रबल पड़ा और यज्ञों में पशुओं का बलिदान धूम-धाम से होने लगा। उस समय भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ, जिन्होंने भारतीय जनता को एक बार कर्म-काण्ड से बिलकुल हटाकर अपने ज्ञान-वैराग्य-मिश्रित धर्म की ओर लगाया। पर उनके धर्म में 'उपासना' का भाव नहीं था, इससे साधारण जनता की तृप्ति उससे न हुई और उपासना-प्रधान धर्म की स्थापना फिर से हुई।

पर किसी एक अवयव की अत्यन्त वृद्धि से उत्पन्न विषमता को हटाने के लिए जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें उनके स्थान पर दूसरे अवयव का हद से बढ़ना स्वाभाविक था। किसी बात की एक हद पर पहुँचकर जनता फिर पीछे पलटती है और क्रमशः बढ़ती हुई दूसरी हद पर जा पहुँचती है। धर्म और राजनीति दोनों में यह उलट-फेर, चक्र-गति के रूप में होता चला आ रहा है। जब जन-समाज नयी उमंग से भरे हुए किसी शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ में पड़कर किसी हद से दूसरी हद पर पहुँचा दिया जाता है, तब काल पाकर उसे फिर किसी दूसरे के सहारे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किसी दूसरे हद तक जाना पड़ता है। जिन मत-प्रवर्तक महात्माओं को आजकल की बोली में हम 'सुधारक' कहते हैं, वे भी मनुष्य थे। किसी वस्तु को अत्यधिक परिमाण में देख जो विरक्ति या द्वेष होता है, वह उस परिमाण के ही प्रति नहीं रह जाता, किन्तु उस वस्तु तक पहुँचता है। चिढ़नेवाला उस वस्तु की अत्यधिक मात्रा से चिढ़ने के स्थान पर उस वस्तु से ही चिढ़ने लगता है और उससे भिन्न वस्तु की ओर अग्रसर होने और अग्रसर करने में परिमिति या मर्यादा का ध्यान नहीं रखता। इससे नये-नये मत-प्रवर्तकों या 'सुधारकों' से लोक में शान्ति स्थापित होने के स्थान पर अब तक अशान्ति ही होती आयी है। धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामञ्जस्य, जिससे समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें। यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाय तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाय।

उपर्युक्त सामञ्जस्य का भाव लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी की आत्मा ने उस समय भारतीय जन-समाज के बीच अपनी ज्योति जगायी, जिस समय नये-नये सम्प्रदायों की खींच-तान के कारण, आर्य-धर्म का व्यापक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकांगदर्शिता बढ़ रही थी। जो एक कोना देख पाता था, वह दूसरे कोने पर दृष्टि रखनेवालों को बुरा-भला कहता था। शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तूतू-मैंमैं तो थी ही, बीच में मुसलमानों से अविरोध प्रदर्शन करने के लिए भी अपढ़ जनता को साथ लगानेवाले कई नये-नये पन्थ निकल चुके थे, जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंग-ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निन्दा, विद्वानों का उपहास, वेदान्त के चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था, पर लोक को व्यवस्थित करनेवाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य-धर्म का प्रधान लक्षण है। जिस उपासना-प्रधान धर्म का जोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के ह्रास के साथ-साथ शिथिल पड़ गयी थी, कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लगा था। ऐसे समय में इन नये ग्रन्थों का निकलना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। उधर शास्त्रों का पठन-पाठन कम लोगों में रह गया, इधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखनेवाले मूर्ख बढ़ रहे थे जो किसी सद्गुरु के प्रसादमात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार बैठे थे। अतः सद्गुरु भी उन्हीं में निकल पड़ते थे जो धर्म का कोई एक अंग नोचकर एक ओर भाग खड़े होते थे और कुछ लोग झाँझ-खँजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे। दंभ बढ़ रहा था। 'ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात'—ऐसे लोगों ने भक्ति को बदनाम कर रखा था। भक्ति के नाम पर ही वे वेद-शास्त्रों की निन्दा करते थे, पण्डितों को गालियाँ देते थे और आर्य-धर्म के सामाजिक तत्त्व को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। यह उपेक्षा लोक के लिए कल्याणकर नहीं। जिस समाज से बड़ों का आदर, विद्वानों का सम्मान, अत्याचार का दलन करनेवाले शूरवीरों के प्रति श्रद्धा इत्यादि भाव उठ जायँ, वह कदापि फल-फूल नहीं सकता, उसमें अशान्ति सदा बनी रहेगी।

भक्ति का यह विकृत रूप जिस समय उत्तर भारत में अपना स्थान जमा रहा था, उसी समय भक्तवर गोस्वामीजी का अवतार हुआ, जिन्होंने वर्णधर्म, आश्रमधर्म, कुलाचार, वेद-विहितकर्म, शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य स्थापित करके आर्य-धर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचाया। ऐसे सर्वांगदर्शी लोक-व्यवस्थापक महात्मा के लिए मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के चरित्र से बढ़कर अवलम्ब और क्या मिल सकता था? उसी आदर्श चरित्र के भीतर अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उन्होंने धर्म के सब रूपों को दिखाकर, भक्ति का प्रकृत आधार खड़ा किया। जनता ने लोक की रक्षा करनेवाले प्राकृतिक धर्म का मनोहर रूप देखा। उसने धर्म को दया, दाक्षिण्य, नम्रता, सुशीलता, पितृ-भक्ति, सत्यव्रत, उदारता, प्रजापालन, क्षमा आदि में ही नहीं देखा, बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश, और ध्वंस आदि में भी उसे देखा। अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन-दुखियों को सतानेवालों का जो संहार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किया जाता है, कठिन कर्तव्यों के पालन से जो वीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है। जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है—जिससे समाज चलता है—वह यही व्यापक धर्म है। सत् और असत्, भले और बुरे, दोनों के मेल का नाम संसार है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन सदा से संसार में रहते आये हैं और सदा रहेंगे।

सुगुन छीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच विधाता॥

किसी एक सर्प को उपदेश द्वारा चाहे कोई अहिंसा में तत्पर कर दे, किसी डाकू को साधु बना दे, क्रूर को सज्जन कर दे, पर सर्प, दुर्जन और क्रूर संसार में रहेंगे और अधिक रहेंगे। यदि ये उभय पक्ष न होंगे तो सारे धर्म और कर्तव्य की, सारे जीवन-प्रयत्न की इतिश्री हो जायगी। यदि एक गाल में चपत मारनेवाला ही न रहेगा तो दूसरा गाल फेरने का महत्त्व कैसे दिखाया जायगा? प्रकृति के तीनों गुणों की अभिव्यक्ति जब तक अलग-अलग है, तभी तक उसका नाम जगत् या संसार है। अतः ऐसी दुष्टता सदा रहेगी जो सज्जनता के द्वारा कभी नहीं दबायी जा सकती। ऐसा अत्याचार सदा रहेगा, जिसका दमन उपदेशों के द्वारा कभी नहीं हो सकता। संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही लोकधर्म होगा। जीवन के किसी एक अंगमात्र को स्पर्श करनेवाला धर्म, लोकधर्म नहीं। जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरनेवाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उनके लिए कोई व्यवस्था न करे, वह लोकधर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है। यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे-से-ऊँचे ले जा सकती है, जहाँ वह लोक-धर्म से परे हो जाती है। पर सारा समाज इसका अधिकारी नहीं। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोकधर्म होता है।

ईसाई, बौद्ध, जैन, इत्यादि वैराग्य-प्रधान मतों में साधना के जो धर्मोपदेश दिये गये, उनका पालन अलग-अलग कुछ व्यक्तियों ने चाहे किया हो, पर सारे समाज ने नहीं किया। किसी ईसाई साम्राज्य ने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अन्यायपूर्वक अग्रसर होनेवाले दूसरे साम्राज्य से मार खाकर अपना दूसरा गाल नहीं फेरा। वहाँ भी समष्टिरूप में जनता के बीच लोकधर्म ही चलता रहा। अतः व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशों की तड़क-भड़क दिखाकर लोकधर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाखंड ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता भी है जिसके बीच काया पली है।

लोकमर्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिए वेद-शास्त्र की निन्दा, ये सब बातें ऐसी थीं जिनसे गोस्वामीजी की अन्तरात्मा बहुत व्यथित हुई।

इस दल का लोकविरोधी स्वरूप गोस्वामीजी ने खूब पहचाना। समाजशास्त्र के आधुनिक विवेचकों ने भी लोकसंग्रह और लोकविरोध की दृष्टि से जनता का विभाग किया है। गिडिंग के चार विभाग ये हैं—लोकसंग्रही, लोकबाह्य, अलोकोपयोगी और लोकविरोधी। लोकसंग्रही वे हैं, जो समाज की व्यवस्था और मर्यादा की रक्षा में तत्पर रहते हैं और भिन्न-भिन्न वर्गों के परस्पर सम्बन्ध को सुखावह और कल्याणप्रद करने की चेष्टा में रहते हैं। लोकबाह्य वे हैं, जो केवल अपने जीवन-निर्वाह से काम रखते हैं और लोक के हिताहित से उदासीन रहते हैं। अलोकोपयोगी वे हैं, जो समाज में मिले तो दिखायी देते हैं, पर उसके किसी अर्थ के नहीं होते, जैसे आलसी और निकम्मे, जिन्हें पेट भरना ही कठिन रहता है। लोकविरोधी वे हैं, जिन्हें लोक से द्वेष होता है और जो उसके विधान और व्यवस्था को देखकर जला करते हैं। गिडिंग ने इस चतुर्थ वर्ग के भीतर पुराने पापियों और अपराधियों को लिया है। पर अपराध की अवस्था तक न पहुँचे हुए लोग भी उसके भीतर आते हैं जो अपने ईर्ष्या-द्वेष का उद्गार उतने उग्र रूप में नहीं निकालते, कुछ मृदुल रूप में प्रकट करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी

[१८९५ ई०]

हिन्दी के वयोवृद्ध निबन्धकार श्रीनारायण चतुर्वेदी हिन्दी-जगत् के सुपरिचित हास्य-व्यंग्य निबन्धकार हैं। इनका जन्म सन् १८९५ ई० में इटावा जिले में हुआ था। पिता श्री द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी सुप्रसिद्ध कोशकार और लेखक थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा का क्षेत्र मध्य और उत्तर भारत रहा। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम० ए० करने के उपरान्त आप लन्दन भी गये और वहाँ से शिक्षा-शास्त्र में ए० ए० किया। हिन्दी के प्रचार और प्रसार में इनका योगदान विशिष्ट महत्त्व रखता है। कुछ समय तक इन्होंने भारत-सरकार के सूचना एवं प्रसारण-विभाग में उप-महानिदेशक पद पर कार्य किया। लगभग पच्चीस वर्षों से 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन कार्य कर रहे हैं। 'विनोद शर्मा' के नाम से इन्होंने व्यंग्यपूर्ण कविताएँ और निबन्ध लिखे हैं। भारतीय इतिहास, शिक्षा-शास्त्र एवं 'देशपरिचय' पर इनकी अनेक पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके निबन्धों का संग्रह 'राजभवन की सिगरेटदान' नाम से छपा है। सरस्वती के सम्पादक की हैसियत से इन्होंने सामयिक विषयों पर बड़े महत्त्व की टिप्पणियाँ लिखी हैं।

इनके निबन्ध हास्य-व्यंग्यात्मक-निबन्धों के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। समाज व राजनीति की कोई भी अनीति अथवा कमजोरी लेखक की पैनी दृष्टि से बच नहीं सकी है। इनके व्यंग्य इस अर्थ में भी अत्यन्त सार्थक हैं—कि इनका उद्देश्य दूसरे की दुर्बलता पर प्रहार करना नहीं है, गुदगुदा-हँसाकर उस ओर ध्यान भर आकृष्ट करना है। भाषा स्वयं सब कुछ कह जाती है, लेखक को अपनी ओर से कुछ कहना ही नहीं पड़ता। मुहावरों का भरपूर प्रयोग है। अंग्रेजी-उर्दू एवं बोलियों के शब्द बहुतायत से मिलते हैं। नये शब्द—जैसे 'सैटिलाइटिस', 'स्वीडो मेनिया', आदि—इन्होंने खूब गढ़े भी हैं, जो इनकी सामर्थ्य एवं प्रतिभा के परिचायक हैं। निस्सन्देह इस प्रकार की टकसाली और सशक्त भाषा की अन्यत्र प्राप्ति दुर्लभ है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहित्य-विटप

वैष्णव होने के कारण मुझमें साहित्य के मन्दिर में स्थित शालिग्राम की सभी छोटी-बड़ी वटियों में समान भक्ति है। उनके सम्बन्ध में भेद-बुद्धि रखना धर्म का अपमान होगा। भक्तों में भेद-बुद्धि पाप है, किन्तु देवताओं में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े की भावना भी स्वाभाविक है। देवताओं और मनुष्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेवाली और उनके प्रति हमारे घोर मानवी हृदय में सहानुभूति और संवेदना उत्पन्न करनेवाली उनकी यही दुर्बलता है। हमारे साहित्यिक देवता भी इस देवसुलभ गुण से वंचित नहीं हैं।

मैंने देखा है कि साहित्याकाश के सूर्य और चन्द्रमा; ये अरुन्धती, सप्तर्षि और ध्रुव; ये बुध, मंगल, शुक्र, वृहस्पति और शनि, उन लघु, लघुतर और लघुतम टिमटिमाते हुए तारों को, उन असंख्य नक्षत्रों को, जिनके विना रजनी निष्प्रभ हो जायेगी और जिनके विना चन्द्रमा विधुर हो जायेंगे, हीन दृष्टि से देखते हैं। वे उन्हें निम्नकोटि का जीव समझते हैं जो स्वप्निल साहित्य-स्वर्ग के स्वर्णिम द्वार के पास फटकने के योग्य नहीं। इनमें कोई-कोई तो अपनी सम्मति कविसुलभ लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, उपमा, कूट या कटाक्ष द्वारा प्रकट करते हैं और कोई विशुद्ध अभिधा में उसे व्यक्त कर देते हैं।

उनसे मेरा निवेदन है : हम इस साहित्य-रूपी विटप के अज्ञात, असम्मानित, अनभिनन्दित पल्लव; और आप कमनीय, प्रस्फुटित, मदिरगंध, नयनाभिराम कुसुम हैं! किन्तु हम वह हैं जिनके बिना यह साहित्य-विटप ठूँठ रह जायगा। पतझड़ में पत्रहीन ठूँठ केवल विकृत मस्तिष्क को ही आकर्षित करता है। पल्लवों के विना वृक्ष मानो वसनहीन हो जाने के कारण लज्जा से स्तब्ध होकर सुषुप्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। पल्लवहीन प्रकृति—'विधु बदनी सब भाँति सँवारी, सोह न यथा बसन बिनु नारी' की तरह मालूम पड़ती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जब नवजात शिशु के समान हमारा रक्तिम कलेवर संसार के सामने आता है, जब रक्ताभ और ताम्रवर्ण किसलयों से ठूँठ ढँक जाता है, तव प्रकृति मानो नया परिधान धारणकर स-वसना गृहकामिनी की भाँति शोभित होकर निखर उठती है। साहित्य-विटप के हम नगण्य और असंख्य पल्लव हैं। हम पल्लव (श्रीनारायण चतुर्वेदी सरीखे लेखक श्रीवर तथा श्रीविनोद सरीखे कवि) इस साहित्य-विटप को समाज-रूपी वातावरण और वायुमंडल से जीवनदायिनी वायु खींचकर उसे साँस लेने में सहायता देते हैं, जिससे वह समाज की प्राणदायिनी शक्ति पाकर जीवित रह सके, और आप ऐसे रमणीय कुसुमों को उत्पन्न कर सकें। हम, पल्लव, उसकी शोभा ही नहीं बढ़ाते, उसे प्राण ही नहीं देते, हम उसे संसार में अभिनन्दनीय और वन्दनीय भी बनाते हैं। क्या पल्लवहीन ठूँठ 'दीरघ दाघ निदाघ' में किसी थके बटोही को शीतलता और विश्राम दे सका है? क्या हमारे बिना विटप में सुखमय छाया देने की शक्ति आ सकती है? क्या पुष्पमंडित, किन्तु पल्लवहीन, करील ने किसी त्रस्त बटोही को सिवाय उसके अंग क्षत-विक्षत करने और उसके वस्त्रों को नोचने के कभी आश्रय भी दिया है? यही नहीं, यदि हम विटप को आच्छादित न करें तो क्या सहस्रों सुन्दर-सुन्दर शुक, पिक, कपोत, सारिका आकर उसमें अपना नीड़ बना सकेंगे? सम्भव है कि उसमें काक, गृध्र और चील भी रहते हों। किन्तु वे भी तो आखिर जीव ही हैं। उनको हम आश्रय से कैसे वंचित करें? हम तो समान रूप से भलों-बुरों को आश्रय देते हैं। पर ठूँठ अपने कोटरों में केवल शृगालों और सर्पों को ही आश्रय देता है और हाँ, रात्रि में ठूँठ पर बैठकर उलूक पक्षी सुकुमार और कोमल-हृदया कामिनियों तथा प्रकृति-भीरु बालकों को अपनी हृदय-विदारक चीत्कार से त्रस्त अवश्य कर सकता है।

हम पल्लव हैं। किन्तु न हम हीन हैं, न दीन और न दयनीय। बिना हमारे वन्दनवार असम्भव हैं और जब तक हम पंच-पल्लवों के रूप में न जा विराजें, कोई भी मांगलिक कृत्य सम्भव नहीं। हम अवश्य ही वसन्त को श्री हैं, किन्तु हमें वसन्त की श्रीवृद्धि करने का अभिमान नहीं

CC-0 Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। हम इतने ही से सन्तुष्ट हैं कि आश्रयहीन दीनजनों की पर्णकुटी छाकर हम उनको प्रकृति के कोप से बचाते हैं। यदि हमने पुण्य अर्जन किया है तो यही कि हम भगवान् राम की पर्णकुटी बना सकें और यदि भविष्य में पुण्य प्राप्त होना है तो हम कितने ही वशिष्ठ और भरद्वाज की पर्णशाला बना सकेंगे। सेवा का अवसर तो हमें मिलता ही रहता है। हम चाहे हरे हों चाहे सूख जायँ—दीन व्यक्ति और गृहस्थ तथा धनिक भी हमारे ही दोने और पत्तल बनाकर आगत अतिथियों का सत्कार कर पाते हैं। यही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर हम अपने को पशुओं तक को समर्पित करके उनके प्राणों की रक्षा करते हैं। हम भाड़ में अपनी आहुति देकर देश के दरिद्रतम लोगों को चने-मुरमुरे सुलभ कर उनकी क्षुधा शान्त करते हैं। इतने ही से हमारा जीवन धन्य है। और अपनी इसी नम्रता, विनय और सेवा के फल से तुलसीदल के रूप में हम 'पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्' माने जाकर आसन्नमृत्यु प्राणियों के मुख में गंगाजल के साथ छोड़े जाते हैं और उनकी मुक्ति में सहायक होते हैं।

हम—पल्लव—उपयोगिता, सेवा और नम्रता की मूर्ति हैं। कभी-कभी नम्रता का 'फिट' आने पर आपमें से भी कोई-कोई अपने को पल्लव अथवा पल्लविनी घोषित करते हैं। किन्तु कुसुमों में नम्रता ठहर ही कैसे सकती है? उन्हें तो पत्तियों के ऊपर ऐंठकर खड़े होने और वहाँ से—ऊपरी खंड से, अपनी रूपराशि प्रकाशित और विज्ञापित करने में ही आनन्द आता है। हाँ, कभी-कभी हम पल्लवों का गवाक्ष बनाकर आप संसार को झाँक लेते और झाँकी दिखला दिया करते हैं। कभी-कभी समालोचकरूपी निठुर माली की निगाह और उसके क्रूरकर्मा हाथों से बचने के लिए हमारी ओट में छिप भी जाते हैं। किन्तु हम आपकी महानता मानते हैं। पारिजात, कमल, चम्पा, माधवी, मोंगरा, गुलाब के रूप में ही नहीं, आप प्रत्येक रूप में देवताओं तक को प्रिय हैं। चाहे धतूरे ही के क्यों न हों, कुसुम होते ही आपको देवता के सिर पर चढ़ने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। दूसरों के सिर चढ़ना आपको इतना प्रिय है कि आप विवेकशून्य होकर देवता से लेकर चौराहे के पीर तक पर—कहाँ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तक कहें—शव पर भी चढ़ने को सदैव तैयार रहते हैं। आप इसका गर्व न करें। विल्वपत्र और तुलसीदल के रूप में हम भी भूतभावन विश्वेश्वर विश्वनाथ की और आनन्दकन्द ब्रजचन्द की पूजा में चढ़ाये जाते हैं। किन्तु, हम केवल सत्पात्र को ही यह अधिकार देते हैं। हमारे बबूल और नीम के पत्ते आपके धतूरे के फूल की तरह औरों पर चढ़ने का हास्यास्पद दुःसाहस नहीं करते।

हम मानते हैं कि कामिनियों के शृङ्गार के आप अन्यतम साधन हैं। विलासप्रिय लोगों के आप आधार हैं। आपका कलेवर कमनीय है, आपका स्वरूप मनोरम और नयनाभिराम है। आप प्रकृति-वधूटी के शृङ्गार हैं। आप कामिनियों की वेणी में फल-मणि का भ्रम उत्पन्न करते हैं, उनकी कोमल कलाइयों को दबाते और उनके सुर-दुर्लभ गले में घेरा डालकर उनका आलिंगन करते हैं। यही देखकर समझदार लोगों ने कहा था कि जहाँ रवि की भी पहुँच नहीं होती वहाँ आप पहुँच जाते हैं। पुष्प-शय्या आपसे ही सार्थक होती है। सन्ध्या के समय चौक में घूमते और यौवन-मद से मतवाले युवक आपको गले में डालकर ही जवानी के जोवन को सफल समझते हैं। और पाश्चात्य सभ्यता से दंशित लोग, यद्यपि इन लोगों की तरह आपसे निकट शारीरिक सम्पर्क रखना समयोचित नहीं समझते, फिर भी अपने गोल कमरों में और खाने की मेजों पर शोभा और अलंकरण के लिए आपको मूल्यवान् और सुन्दर पात्रों में दूर रखकर मानो इस बात की घोषणा करते हैं कि सभ्य समाज के जीवन में आपका क्या स्थान और क्या उपयोग है। संसार-त्यागी संन्यासी आपका उपयोग करते नहीं देखे गये। हाँ, भक्तलोग देवताओं के शृङ्गार में आपका उपयोग कर लेते हैं और फिर आपको भगवान् का निर्माल्य समझ श्रद्धा से सिर पर चढ़ा, यत्नपूर्वक एक ओर रख देते हैं और समय मिलने पर गंगाजी में प्रवाहित कर देते हैं।

जब—

प्रभाते स्नातीनां नृपति-रमणीनां कुचतटी।
गतो यावन्मातर्मिलति तव तोयैर्मृगमदः॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मृगास्तावद् वैमानिक शतसहस्रैः परिवृता।
विशन्तिं स्वच्छन्दं विमलवपुषो नन्दन-वनम् ॥

तब आप तो सशरीर गंगाजी में प्रवाहित किये जाते हैं। अवश्य ही आपकी सद्गति होती होगी। किन्तु, यह याद रखिये कि सद्गति का यह सौभाग्य आपको तभी प्राप्त होता है जब आप पहले अपने-आपको देवता को समर्पित कर दें और उनके निर्माल्य हो जायँ। नहीं तो सुबह होते ही रमणियों के विलास-भवन से मेहतर आपको बुहारकर घूर पर फेंक देता है, जहाँ से म्युनिसिपैलिटी की गाड़ी में अन्तिम यात्रा कर आप किसी गड्ढे में दफना दिये जाते हैं और वहाँ से सडाँध का विस्तार किया करते हैं।

आप अपने रूप से लोगों को लुभाते और अपनी गन्ध से उनमें मादकता लाते हैं। गुलाबी गर्मी की शीतल चाँदनी रात में, जब दक्षिण मलय हल्के झोंको से चल रहा हो, उस समय आप चाहे बेला या जुही के रूप में हों, और चाहे रजनीगंधा के रूप में, आपकी मधुर गंध लोगों के हृदयों में कौन-सा भाव उदय करती है? 'ललित-लवंग-लता परिशीलन कोमल मलय समीरे' की पंक्ति आपकी इस मादक कर देने की शक्ति की महिमा ही में तो लिखी गयी थी। और उस समय 'जुही की कली' की क्या दशा होती है? विलासिता के राजस भाव उत्पन्न करने में आप इस सृष्टि के सबसे सफल साधक और सबसे बड़े कारण हैं। और आपके वर्ण? उनसे किसी को प्रेयसी के चम्पक रंग का, किसी को नीलोत्पल या रक्ताभ कमल-सी आँखों का—और न मालूम कितने प्रकार से प्रेयसी का स्मरण हो आता है। सारांश यह कि आप शृङ्गार-रस के उद्दीपन हैं, उसके आधार हैं। कामदेव ने अपने शरों को आपसे निर्माण कर आपकी शक्ति और सार्थकता को प्रमाणित करके तार्किकों को हतबुद्धि और निरुत्तर कर दिया है।

आप आप ही हैं, और हम हम ही। 'हमहिं तुमहिं सरबर कस नाथा, कहहु कि कहाँ चरन कहँ माथा?' नियति ने हमारा कर्तव्य कुछ और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निर्धारित किया है और आपका कुछ और। हजरत ईसामसीह ने कहा था, 'मनुष्य का पुत्र संसार में दूसरों की सेवा करने के लिए आया है— दूसरों से सेवा कराने के लिए नहीं।' हम सेवा करने के लिए और आप सेवा लेने के लिए हैं। माली आपको सींचते हैं, मालिनें आपको गूँथती हैं, कुल-कामिनियाँ आपको अपने सुकुमार करों से बड़ी कोमलता से स्पर्श करती हैं। आप धूप और तुषार से बचाये जाते हैं। और हम? जब उंचासों पवन क्रुद्ध होकर भूमण्डल को झकझोरने लगते हैं, जब प्रलयान्तक मेघ मूसलाधार वारिधारा से वसुन्धरा को डुबा देने को प्रयत्नशील हो जाते हैं, जब इन्द्र उपल बरसाते हैं, जब मेष के सूर्य अपनी प्रखर रश्मियों से पृथ्वी के हृदय का सार तक खींचने का प्रयत्न करते हैं—तब, उस समय भी, हम यों ही, भगवान् के सहारे, नृत्य और गान करते हुए, अथवा 'जाही विधि राखै राम, ताहि विधि रहिये' सोचकर, चुपचाप, ज्यों-के-त्यों खड़े रहते हैं। अपनी बकरियों के लिए हमें बिल्लेसुर बकरिहा दिनदहाड़े हँसिया-लगी लग्गी से झटका देकर निर्दयतापूर्वक तोड़ लेते हैं, किन्तु आप :

हौले झरें शिथिल कबरी में,
गूँथे हर शृंगार कामिनी!

●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रामवृक्ष बेनीपुरी

[१९००–१९६८ई०]

बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री रामवृक्ष बेनीपुरी हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठित लेखक, सम्पादक एवं पत्रकार थे। इनका जन्म मुज़फ़्फ़रपुर जिले के बेनीपुर नामक ग्राम में सन् १९०२ में हुआ था। अल्पवय में ही माता-पिता की छत्रच्छाया से वंचित हो गये। गाँधीजी के सहयोग-आन्दोलन से प्रभावित होकर अध्ययन कार्य छोड़ दिया। इन्होंने पन्द्रह वर्ष की आयु से ही लिखना आरम्भ कर दिया था। एक पत्रकार के रूप में इन्होंने जनजागृति में अपूर्व सहयोग दिया, फलतः जीवन का अधिकांश कारावास में ही बीता। 'बालक', 'तरुण-भारत', 'किसान-मित्र', 'नयी धारा'—आदि पत्रिकाओं का सम्पादन भी इन्होंने किया।

इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। गद्य की प्रत्येक विधा—कहानी, नाटक, उपन्यास, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, ललित निबन्ध—पर आपका अधिकार था। इनकी रचनाओं की संख्या सौ से अधिक है जो अब 'बेनीपुरी ग्रन्थावली' नाम से प्रकाशित हो चुकी है।

एक कर्मठ देश-भक्त के रूप में भी आपकी सुख्याति है। इनका साहित्य-अनुभूतियों की गहनतम और कल्पना की उच्चतम मनोभूमियों को एक साथ स्पर्श करता है। 'चपल खंजन-सी फुदकती भाषा, इनके निबन्धों की अपनी विशेषता है। आंचलिक शब्दों का प्राचुर्य है। वाक्य छोटे-छोटे, सरल और अत्यन्त सार-गर्भित हैं। इनकी भाषा बँधकर नहीं रह सकी है। व्याकरण भी कहीं-कहीं इनसे पनाह माँगने लगता है। शैली में नाटकीयता है और है सीधे मर्म को उद्वेलित करने की सामर्थ्य।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गेहूँ बनाम गुलाब

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बड़ा या गुलाब? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस!

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाये, क्या पीये? माँ के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाये उससे!

गेहूँ—उसकी भूख का काफिला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है! गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ!

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिए!

बेचारा गुलाब—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक वृत्तियों को कहीं कोने में डाल रखा है, दबा रखा है।

× × ×

किन्तु; चाहे कच्चा चरे या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर? मानव को मानव बनाया गुलाब ने! मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी!

यही नहीं; जब उसके पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थीं, टँकी थीं।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थीं। पशुओं को मारकर, खाकर ही वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तृप्त नहीं हुआ। उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग की बनायी तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा जा रहा था, तब उसके छप्-छप् में उसने ताल पाया, तराने छोड़े! बाँस से उसने लाठी ही नहीं बनायी, वंशी भी बजायी।

रात का काला-धुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वसित हुआ सिर्फ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी; बल्कि वह आनन्द-विभोर हुआ उषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैःशनै प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस-कणों से! आसमान में जब बादल उमड़े, तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उनके सौन्दर्य-बोध ने उनके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया; इन्द्रधनुष ने उनके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रंगों में रंग दिया!

मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है; हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं हैं। जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की!

गेहूँ की आवश्यकता उसे है; किन्तु, उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की! उपवास, व्रत, तपस्या आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

× × ×

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का समतुलन रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा।

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गायें चराता था, रात में रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरें गड़ी थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं!

किन्तु धीरे-धीरे वह समतुलन टूटा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़नेवाले, थकानेवाले, उबानेवाले, नारकीय यन्त्रणाएँ देनेवाले श्रम का—वह श्रम, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज़ का! वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी!

अब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिये। नतीजा—महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश!

वह परम्परा चली आ रही है! आज चारों ओर महाभारत है, गृहयुद्ध है—सर्वनाश है, महानाश है!

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में; गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालन-कर्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर!

× × ×

चलो, पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम फिर एक बार समतुलन स्थापित करें!

किन्तु, मानव क्या पीछे मुड़ा है; मुड़ सकता है?

यह महायात्री चलता रहा है, चलता रहेगा!

और क्या नवीन समतुलन चिरस्थायी हो सकेगा? क्या इतिहास फिर दुहराकर नहीं रहेगा?

नहीं; मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ में फिर समतुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं!

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे!

गेहूँ पर गुलाब की विजय—चिर-विजय। अब नये मानव की यह नयी आकांक्षा हो!

क्या यह सम्भव है?

बिल्कुल, सोलह आने सम्भव है!

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विज्ञान ने बता दिया है—यह गेहूँ क्या है। और उसने यह भी जता दिया है कि मानव में यह चिर-बुभुक्षा क्यों है।

गेहूँ का गेहूँत्व क्या है, हम जान गये हैं। यह गेहूँत्व उसमें आता कहाँ से है, हमसे यह भी छिपा नहीं है!

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्त्व एक विशेष-प्रक्रिया से पौधों की बालियों में संगृहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं! उन्हीं तत्त्वों की कमी, हमारे शरीर में, भूख नाम पाती है!

क्यों पृथ्वी की जुताई, कुड़ाई, गुड़ाई! हम पृथ्वी और आकाश से उन तत्त्वों को सीधे क्यों नहीं ग्रहण करें?

यह तो अनहोनी बात—युटोपिया, युटोपिया!

हाँ, यह अनहोनी बात, युटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक विज्ञान संहार-काण्ड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्योंही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी!

और; विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है!

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर कदम बढ़ा भी रहा है!

कम-से-कम इतना तो वह तुरत कर ही देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की अन्य परमावश्यक वस्तुएँ—हवा, पानी की तरह—इफरात हो जायँ! बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके और किस्म, आदि तो निकलते ही जा रहे हैं, जो गेहूँ की समस्या को हल कर दें।

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले साधनों की प्रचुरता—की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है!

× × ×

प्रचुरता?—एक प्रश्न चिह्न!

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

"हमारा सोने का हिन्दोस्तान"—यह गीत गाइये; किन्तु यह न भूलिये कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी !

राक्षसता—जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी; जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे; जो छह महीने सोती थी, जिसे दूसरे की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी।

गेहूँ बड़ा प्रबल है—वह बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम बनाकर रखना चाहेगा ! पेट की क्षुधा शान्त कीजिये, तो वह वासनाओं की क्षुधा जाग्रतकर आपको बहुत दिनों तक तबाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आये, इसके लिए क्या उपाय ?

अपनी वृत्तियों को वश में करने के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है—इन्द्रियों के संयमन की ओर वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करने की !

संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनि देते आये हैं। किन्तु इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने हैं—बड़े-बड़े तपस्वियों की लम्बी-लम्बी तपस्याएँ एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गयीं !

आज भी देखिये। गाँधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलनेवाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं !

इसलिए उपाय एकमात्र है—वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करना !

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिये !

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूँ पर गुलाब की !

गेहूँ के बाद गुलाब—बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं।

× × ×

गेहूँ की दुनिया खत्म होने जा रही है—वह स्थूल दुनिया, जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छायी हुई है !

जो आर्थिक रूप में रक्त पीती रही; राजनीतिक रूप में रक्त की धारा बहाती रही !

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब वह दुनिया आनेवाली है जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेंगें !

गुलाब की दुनिया—मानस का संसार—सांस्कृतिक जगत् !

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानस-जगत् का नया लोक बसायेंगे !

जब गेहूँ से हमारा पिण्ड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे !

गुलाब की दुनिया—रंगों की दुनिया, सुगन्धों की दुनिया !

भौंरे नाच रहे, गूँज रहे; फुलसुँघनी फुदक रही, चहक रही !

नृत्य, गीत—आनन्द, उछाह !

कहीं गन्दगी नहीं; कहीं कुरूपता नहीं ! आँगन में गुलाब; खेतों में गुलाब ! गालों पर गुलाब खिल रहे; आँखों में गुलाव झाँक रहा !

जब सारा मानव-जीवन रंगमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायगा !

वह दिन कब आयगा ?

वह आ रहा है—क्या आप देख नहीं रहे ? कैसी आँखें हैं आपकी ! शायद उन पर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइये और देखिये वह अलौकिक, स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर ही।

शौके दीदार अगर है, तो नजर पैदा कर !

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

[१९०४–१९६६ ई०]

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का जन्म सन् १९०४ ई० में हुआ था। इनकी बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र थी। पूरी लगन और मनोयोग से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर इन्होंने शोधकार्य आरम्भ किया। भाषा-विज्ञान के आप पंडित थे। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का भी आपने अध्ययन किया और आधिकारिक ज्ञान प्राप्त किया। पुरातत्त्ववेत्ता के रूप में भी आप सुविख्यात थे। इनके निबन्धों के मुख्य विषय—इतिहास, संस्कृति और कला हैं। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में इन्होंने विभागाध्यक्ष पद पर भी कार्य किया। सन् १९६६ ई० में इनका स्वर्गवास हो गया।

अग्रवालजी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। 'पृथ्वी-पुत्र' कला और संस्कृति, भारतीय कला, वाग्धारा, कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन तथा 'कल्पवृक्ष' आपकी उत्कृष्टतम रचनाएँ हैं। पुरातत्त्व एवं भाषा-विज्ञान विषय पर इनके निबन्ध अनेकानेक उच्चस्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। और भी बहुतेरी रचनाएँ यत्र-तत्र बिखरी हैं।

इनके अधिकांशतः लेख शोध-परक हैं, जिनमें तार्किकशैली अपनायी गयी है। भाषा विशुद्ध साहित्यिक है। विषय के अनुकूल ही भाषा में भावप्रवणता, सरलता एवं माधुर्य है। इनकी शब्द-सम्पदा विशाल थी अतः प्रत्येक दृष्टि से इनका शब्द-चयन उत्तम है। भाषा में तर्क-शक्ति और कल्पना-शक्ति के साथ सहृदयता है। इनके निबन्धों में इनका पाण्डित्य कहीं भी व्यक्तित्व पर हावी नहीं हुआ है। यही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजसेवक

इसके अनन्तर वाण ने राजसेवा स्वीकार करनेवाले व्यक्तियों को, उनके दुःख-सुख की, भाँति-भाँति की मनोवृत्तियों के, उनके द्वारा किये जानेवाले कुत्सित कर्म, काट-कपट, उखाड़-पछाड़, खुशामद और चापलूसी के विषय में विचित्र उद्गार प्रकट किये हैं। यह प्रकरण विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। सरकारी नौकरी की हिजो या निन्दा में शायद ही आज तक किसी ने ऐसी पैनी बातें लिखी हों। वाण के ये अपने हृदयके उद्गार हैं, जो उसने हंसवेग के मुख से कहलवायें हैं। राजदरबारों की चाटुकारिता, स्वार्थ से सने हुए भृत्यों और अभिमान में डूबे हुए राजाओं का जो दमघोटू वातावरण उन्होंने घूम-फिरकर देखा था, उन्होंने उसकी खरी आलोचना अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की समस्त शक्ति को समेटकर यहाँ की है। वे तो राजसेवकों को मनुष्य मानने के लिए भी तैयार नहीं—"बिचारे राजसेवक को भी यदि मनुष्यों में गिना जाय, तो राजिल का भी सर्प मानना पड़ेगा, पयाल की भी धान में गिनती करनी होगी। मान-धन के लिए क्षणभर भी मानवता के गौरव के साथ जीना अच्छा, किन्तु मनस्वी के लिए त्रिलोक के राज्य का उपभोग भी अच्छा नहीं, यदि उसके लिए सिर झुकाना पड़े।"

"सेवक अपने को धिक्कारता है और सोचता है कि वह धन मिट जाये, उस वैभव का सत्यानाश हो, उन सुखों को डंडौत है, उस टीम-टाम से भगवान् बचावे, जिसकी प्राप्ति के लिए मस्तक को पृथ्वी पर रगड़ना पड़े।

"राजसेवक केवल मुँह से मीठी बात करनेवाला मुखविलासी नपुंसक है, सड़े मांस का कीड़ा है, मर्द की शक्ल में वेगिनती का पुतला है, सिर पर पैरों की धूल लगानेवाला चलता-फिरता पाँवडा है, लल्लो-चप्पो करने में नरकोयल है, मीठे बोल उचारनेवाला मोर है, धरती पर सीना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

घिसनेवाला कछुआ है, वह चापलूसी का कुत्ता है, दूसरे के लिए शरीर को मोड़ने-तोड़ने में वेश्या की भाँति है। जीवनवाले व्यक्तियों में वह फूस की तरह है, सिर मटकाने में गिरगिट है, अपने आपको सिकोड़कर रखनेवाला झाड़-चूहा है। पैरों की चंपी का अभ्यासी पड़वाया है, कराभिघात सहने में कन्दुक एवं कोणाभिघात (इसका दूसरा अर्थ लकुटताड़न भी है) का अभ्यस्त वीणादण्ड है।"

"मृतक का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता। उसके पापकर्मों का भी कोई प्रायश्चित्त है? उसे सुधारने का क्या उपाय? वह शान्ति के लिए कहाँ जाय? उसके जीवन का भी क्या नमूना? पुरुषोचित अभिमान उसमें कहाँ? उसके सुख-विलास कैसे? भोगों के सम्बन्ध में उसके विचार ही क्या? यह दारुण 'दास' शब्द घोर दलदल की तरह सबको नीचे ढकेल देता है।"

अच्छे भले पुरुष को भी जो नौकरी के लिए बाध्य होना पड़ता है, जो मनोवृत्ति मनुष्य को राजसेवा के लिए प्रेरित करती है, उसका विवेचन करते हुए बाण ने लिखा है—"बहुत दिनों की दरिद्रता बुड्ढी माँ की तरह पुरुष को नौकरी की ओर ढकेलती है। तृष्णा असन्तुष्ट स्त्री की भाँति उसे जोर लगाती है। अनेक वस्तुओं की चाहना करनेवाले यौवन में उत्पन्न मनहूस विचार उसे नौकरी के लिए सताते हैं। दूसरों की याचना से मिलनेवाले बड़े पद का लालच उसे इस ओर खींचता है। उसकी कुंडली में पड़े हुए बुरे ग्रह उसे इस परेशानी में डालते हैं। पूर्व-जन्म के खोटे कर्म पीछे लगकर उसे इधर ढकेलते हैं। अवश्य ही वह दुष्कृती है, जो राजकुल में प्रवेश करने का विचार मन में लाता है। वह उस व्यक्ति की तरह है, जिसकी इन्द्रियों की शक्ति ठप हो गयी हो, किन्तु भाँति-भाँति के सुख भोगने की झूठी साध मन में भरी हो।"

नौकरी के लिए जब कोई राजद्वार की ओर मुँह उठाता है, तब किसी को तो द्वार के बाहर द्वार-रक्षक लोग रोक देते हैं और वह वन्दन-वार के पत्ते की तरह वहीं झूलता रहता है। वहाँ के दुःख सहकर किसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तरह राजकुल की ड्योढ़ी के भीतर प्रवेश भी हो गया, तो दूसरे लोग उस पर टूटकर हिरन की तरह कुटियाते हैं। चमड़े के बने हुए हाथी की तरह बार-बार प्रतिहारों के घूँसे खाकर धकिया दिया जाता है। धन कमाने के लिए राजकुल में गया हुआ वह ऐसे मुँह लटकाये (अधोमुख) रहता है, जैसे गड़े खजाने के ऊपर लगाये हुए पौधे की डाल नीचे झुकी हो। चाहे वह कुछ न भी माँगे, तो भी वह राजद्वार के भीतर दूर तक प्रविष्ट हुआ जोर के साथ वाहर फेंक दिया जाता है, जैसे धनुष, बाण को भीतर खींचकर वेग से छोड़ देता है। चाहे वह किसी के मार्ग का काँटा न हो और अपने आपको चरण-सेवा में लगाये रखे तो भी वे उसे निकालकर दूर फेंक देते हैं। कहीं असमय में स्वामी के सामने चला गया; तो उसकी कुपित दृष्टि उसे जलाकर नष्ट ही कर देती है, जैसे अनाड़ी कामदेव देवताओं के फेर में पड़कर शिव के द्वारा जल गया था। किसी तरह से यदि राजकुल में रह गया तो डाँट-फटकार सहते हुए भी उसे अपने मुँह पर लाली बनाये रखनी पड़ती है। प्रतिदिन प्रणाम करते-करते उसका माथा घिस जाता है। त्रिशंकु की तरह दोनों लोकों से गया-बीता वह रात-दिन नीचे मूँड़ी लटकाये रहता है। थोड़े से टुकड़ों के लिए वह अपने सब सुख छोड़ने पर तैयार हो जाता है। जीविका कमाने की अभिलाषा मन में लिये वह अपने शरीर को खपाता रहता है। कभी-कभी अपनी स्त्री को भी छोड़कर राजकुल के लिए जघन्य कर्मों में लगा हुआ कुत्ते की तरह शरीर-दंड तक सहता है। कभी बे-आबरू होकर भोजन पाता है, फिर भी सब कुछ सहता रहता है।

राजकुल में अनेक प्रकार के सेवक होते थे। उनके कर्म और स्वभावों को ध्यान में रखकर बाण ने यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णन दिये हैं—

"कुछ ऐसे हैं, जो कौए की तरह जीभ के चटोरपन में अपना पुरुषार्थ खोकर आयु को व्यर्थ गँवाते रहते हैं। पिशाच जैसे श्मशान के पेड़ों के चक्कर काटे, ऐसे ही कुछ लोग नासपीटी बढ़ोतरी पाकर बदमिजाज हुए

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजा के मुँहलगे मुसाहिबों के पास मँडराते रहते हैं। कुछ लोग राजा-रूपी सुग्गों की मीठी-मीठी बातें सुनकर बच्चों की तरह भुलावे में पड़े रहते हैं। राजा का जादू एक बार जिस पर पड़ गया, वह उसके हुक्म से क्या कुछ नहीं कर डालता? वह अपने झूठ-मूठ के जौहरों का बाना बनाये हुए सदा नम्रता दिखाता है, लेकिन उसका तेज बुझा रहता है, जैसे चित्रलिखित धनुष चढ़ी प्रत्यंचा से झुका हुआ भी बाण चलाने की शक्ति नहीं रखता। वह झाड़ू से बटोरे हुए कूड़े की तरह श्रीहीन होता है। उसे प्रतिहार और प्यादे (कटुकैरुद्वेज्यमानस्य) घुड़क लेते हैं। जब राजद्वार की सेवा से टकापैसा नहीं मिलता, तब मन में वैराग्य उत्पन्न होकर गेरुआ धारण कर लेने की इच्छा करने लगता है। चाहे रात का भी समय हो, वह बाहर फेंक दिया जाता है, जैसे मातृबलि के पिंडे को राह में डाल देते हैं। वह मोटी-झोटी रहन-सहन से अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। आत्म-सम्मान को पीछे डालकर भी झुकता रहता है। अपने आपको बेइज्जत करके वह मुँह से उनकी खुशामद करता है, जो केवल सिर झुकाने से प्रसन्न नहीं होते। निष्ठुर प्रतिहारों की मार खाते-खाते वह बेहया हो जाता है। दीनता के वश उसका हृदय झुक जाता है और आत्म-सम्मान की रक्षा करने की शक्ति से वह रहित हो जाता है। कुत्सित कर्म करते-करते सरकारी नौकरों में उदार विचार नहीं रह जाते। वह केवल पैसे के फेर में कष्ट बटोरता है और अपने साधन बढ़ाने की युक्ति में कमीनेपन को बढ़ा लेता है।

जब देखो, उसकी तृष्णांजलि बनी रहती है। स्वामी के पास जाने में कुलीन होते हुए भी अपराधी की भाँति थर-थर काँपता रहता है। चित्र में अंकित फूल की तरह सरकारी नौकर बाहर से देखने में सुन्दर लगते हुए भी फल देने में ठनठन होता है। बहुत कुछ ज्ञान मस्तिष्क से भरा होने पर भी मौके पर उसके मुँह से अनजान की तरह बात नहीं फूटती। शक्ति होने पर भी काम के समय उसके हाथ कोढ़ी की तरह मिंचे रह जाते है। अपने से बराबर दर्जे के व्यक्तियों को यदि तरक्की मिल जाती है, तो सरकारी नौकर बिना आग के जलने लगता है और यदि मातहत

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को उसके बराबर ओहदा मिल गया, तो साँस निकले विना भी मानो मर जाता है। पद घटने से तिनके की तरह वे प्रतिष्ठा खो देते हैं। दुःख की वायु का झोंका उन्हें रात-दिन दहकाता रहता है। राजभक्त होने पर भी हिस्सा-बाँट में उन्हें कुछ नहीं मिलता। उनकी सब गरमी हवा हो जाती है, पर भाई-बन्धुओं को सताना नहीं छोड़ते। मान विलकुल रहता ही नहीं, फिर भी पद छोड़कर टस-से-मस नहीं होते। उनका गौरव घट जाता है, सत्त्व चला जाता है और वे अपने आपको बिलकुल वेंच डालते हैं। राजसेवक अपनी वृत्ति का स्वयं मालिक नहीं होता। उसकी अन्तरात्मा सदा सोच-विचार के वशीभूत रहती है। खाट से उठते ही प्रणाम करने का उसका स्वभाव वन जाता है, जैसे दग्धमुण्ड सम्प्रदाय के साधु करते हैं। घर के विदूषक की तरह रात-दिन मटकना और दूसरों को हँसाना, ऐसी ही उसकी चेष्टा रहती है। कभी-कभी तो सरकारी नौकर अपने वंश को ही जलानेवाला कुलांगार हो जाता है। एक मुट्ठी घास के लिए मूँड़ी चलानेवाले वैल की तरह राजसेवक है। सिर्फ पेट भरना ही जिसका उद्देश्य है, वह ऐसा मांस का लोथड़ा है।

राजसेवा या सरकारी नौकरी में लगे हुए लोगों के लिए वाण की फब्तियाँ और फटकार अपने ढंग की एक हैं। नौकरी करनेवालों की मनोवृत्ति और कुकर्मों का सूक्ष्म विश्लेषण बाण ने किया है। सम्भव है, तत्कालीन राजशास्त्र के लेखकों ने भी दफ्तरों में और राजदरबार में काम करनेवाले सरकारी कर्मचारियों की मनोवृत्तियों और करतूतों का विवेचन किया हो और वहाँ से उक्त वर्णन का रंग भरा गया हो। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बाण स्वयं भी अत्यन्त पैनी बुद्धि के व्यक्ति थे, जो प्रत्येक विषय के अन्तर में पैठकर पूरी तरह उसका साक्षात्कार करते थे। उन्होंने निकट से राजकुल में काम करनेवालों को देखा-पहचाना था और उसके स्वभाव की विशेषताओं का अध्ययन किया था। नौकरी करके राजदरबार के ठाट-वाट में वाण ने अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता नहीं गँवायी। तटस्थ आलोचक की भाँति वे राजकुलों के और राजकर्मचारियों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के दोषों की समीक्षा कर सके। उनका यह वाक्य ध्यान देने योग्य है— 'मानधनी के लिए क्षणभर भी मानवोचित पौरुष का जीवन अच्छा, किन्तु झुककर त्रिलोक का राज्यभोग भी उसके लिए अच्छा नहीं।'

[हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन से]

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

[१९०७ ई०]

असाधारण व्यक्तित्व एवं अलौकिक प्रतिभा के धनी डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १९०७ ई० में बलिया जिले के 'ओझवलिया' ग्राम में हुआ था। काशी में रहकर आपने संस्कृतभाषा, साहित्य, ज्योतिष-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय से ज्योतिष-विषय में आपने 'साहित्य शास्त्राचार्य' की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् शान्ति-निकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के सान्निध्य में रहकर बँगला और अंग्रेजी-साहित्य का भी अध्ययन किया। वहाँ आप २० वर्ष तक हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष भी रहे। रवीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन-दर्शन का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। ये काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय और तदुपरान्त चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय से इन्हें डी० लिट्० और भारत सरकार से 'पद्मविभूषण' की उपाधि मिली। राजभाषा-आयोग के सदस्य के रूप में इन्होंने हिन्दी की बहुत सेवा की है।

द्विवेदीजी महान् अन्वेषक, आलोचक, निबन्धकार, उपन्यासकार एवं इतिहास लेखक के रूप में ख्यात हैं। अनेकानेक विषयों पर इन्होंने आधिकारिक ग्रन्थ रचे हैं। इनके निबन्ध मुख्य रूप से 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'कुटज', 'आलोक-पर्व' में संगृहीत हैं।

हिन्दी-निबन्धों को द्विवेदीजी ने नयी दिशा प्रदान की है। इनके व्यक्तित्व में कथावाचक की निर्बन्धता, बंगालियों की भावुकता एवं संस्कृतज्ञ पण्डितों की साहित्यिक सरसता के एक साथ दर्शन होते हैं। भाषा शुद्ध हिन्दी है, जिसमें प्रांजलता, भावप्रवणता एवं सुबोधता है। संस्कृत के तत्सम एवं अंग्रेजी-उर्दू के शब्दों का भाषा में खूब प्रयोग मिलता है। विषयानुकूल सरल एवं क्लिष्ट वाक्य योजना है। शब्द-चयन अत्यन्त सार्थक हैं। कुल मिलाकर इनका व्यक्तित्व और कृतित्व—दोनों ही हिन्दी का गौरव है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देत सिख, सिखयो न मानत

सीख देता हूँ, सिखाया नहीं मानता—तुलसीदासजी ने 'विनय-पत्रिका' में अपनी दुर्बलताओं को बताते समय ऐसा कहा है। तुलसीदासजी में तो यह बात नाममात्र को होगी। कौन मानेगा कि जिस आदमी ने नाना पुराण, श्रुति, स्मृति, इतिहास, साहित्य आदि विविध स्रोतों से बूँद-बूँद संग्रह करके 'रामचरित-मानस' जैसा अमृत-सरोवर दिया है, वह किसी का सिखाया नहीं मानता था।

वस्तुतः यदि वे स्वयं ऐसा न कह गये होते, तो उनके बारे में ऐसी बात सोचना भी धृष्टता मानी जाती। परन्तु लगता है, अपने बहाने उन्होंने मनुष्यमात्र की एक बड़ी कमजोरी की ओर इंगित किया है। जो सीखने को तैयार नहीं है, उसे सिखाने का भी हक नहीं है। परन्तु मनुष्य है कि वह दूसरों को सिखाने के लिए कमर कसे बैठा है; स्वयं सीख मानना वह बहुत आवश्यक नहीं मानता।

आज लोकतंत्र और संघटन युग में यह व्यक्तिगत दुर्बलता सामाजिक अभिशाप का रूप लेती जा रही है। हर दल सिखाना चाहता है, हर संघटन सिखाने में रुचि रखता है; पर दूसरा पक्ष उपेक्षित रह जाता है। सीखना उपेक्षित है, सिखाना मुखर है।

तुलसीदास और साधारण मनुष्य में अन्तर है। तुलसीदास अपनी रंचमात्र दुर्बलता को भी जानते हैं; उसे स्पष्ट रूप में स्वीकार करने में उन्हें संकोच भी नहीं है। साधारण मनुष्य अपनी पहाड़-सी दुर्बलता के जानने का भी प्रयास नहीं करता, जान भी ले तो उसे स्वीकार करने का साहस उसमें नहीं होता। अपनी कमजोरी को पहचानना और उसे स्पष्ट रूप में स्वीकार करना बहुत चरित्रवान् लोगों के लिए ही सम्भव है।

मनुष्य में कमजोरियाँ होती हैं, पर उन्हें स्वीकर करने की क्षमता सबमें नहीं होती। यह क्षमता अन्तर के महान् अन्तर्यामी को स्वीकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करने से ही प्राप्त होती है। कितने लोग उस 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं' के अस्तित्व से सदा सावधान रहते हैं? उसके अस्तित्व को ही कितने लोग स्वीकार करते हैं?

तुलसीदासजी ने कितने निश्छल भाव से अपनी कमजोरियाँ बता दी हैं! पर किससे? किसी मनुष्य से नहीं, भगवान् राम से।

मैं सारी दुनिया की बात न करके अपनी ही ओर देखता हूँ, तो लगता है कि कमजोरियों का अक्षयकोष मेरे भीतर ही है। कम-से-कम इस बात में मैं तुलसीदास से कहीं अधिक समृद्ध हूँ। कभी-कभी सोचकर व्याकुल होता हूं कि इतनी दुर्बलताओं को लेकर कैसे जीवन-यात्रा निभा सकूँगा।

पर भगवान की ओर से मुझे यह वरदान मिला है कि मैं इनके बारे में क्वचित्-कदाचित् ही सोचता हूँ। सोचनेवाला दुःखी होता है, न सोचनेवाला निर्द्वंद्व रहता है। खुद तुलसीदास सराह गये हैं—"सबते भले विमूढ़, जिन्हें न व्यापे जगत गति।"

कबीरदास कुछ ज्यादा सोचते थे। रोना पड़ता था उन्हें।

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे॥

सो, जागनेवाले विवेकशील लोग होते हैं; वे सोचते हैं, समझते हैं, परेशान होते हैं। तुलसीदास ऐसे ही थे, कबीरदास ऐसे ही थे।

विवेक भले से बुरे को अलग करता है; वैराग्य बुरे का परित्याग कर केवल भले को ग्रहण करता है। विवेक हो, पर वैराग्य न हो, तो वह केवल जानकारी का गट्ठर लादने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है और विवेकहीन वैराग्य सामाजिक सड़न पैदा करता है। दोनों ही हों, तो वे कर्म और ज्ञान को संतुलित करके व्यक्ति और समाज को स्वस्थ और गतिशील बनाते हैं।

जो सिखाता है, पर सीख नहीं मानता, वह जानकारी पर एकाधिकार स्थापित करना चाहता है और अपनी ही जानकारी के आचरण से कतराता है। आचरण-विहीन जानकारी धर्म की परिपन्थी हो जाती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गोसाईंजी ने इस कथन के आचरण-पक्ष को मानो अधिक स्पष्ट करने के लिए ही कहा था—पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे। दूसरों को उपदेश देने में चतुर लोग तो बहुत हैं; पर उस पर आचरण करनेवाले बहुत थोड़े हैं।

केवल सीख देना आचरण की उपेक्षा करना है। विचार तब तक केवल बात की बात होता है। विवेकशील जानकार लोगों द्वारा सेवित या आचरित होने पर ही विचारधर्म बनता है। मनु ने ऐसा ही कहा है :

विद्वद्‌भिः सेवितः सद्भिः।

प्रत्येक अच्छी बात आचरण के अभाव में अधूरी और पंगु बन जाती है। किसी से डरना नहीं चाहिए, यह अच्छी बात है। पर यह तब तक अधूरा और पंगु सिद्धान्त ही है, जब तक इसके साथ विधिविहित आचरण-प्रधान दूसरा पक्ष न जुड़ा हो—किसी को डराना भी नहीं चाहिए। दूसरी बात के बिना पहली केवल अधूरी ही नहीं है, अहितकारी भी है।

आन्दोलनों के कर्णधार पहली को मान लेते हैं, पर दूसरी को न केवल नहीं मानते, उसके विरुद्ध आचरण भी करते हैं। गीता में उत्तम पुरुष के लिए कहा गया है कि वह लोगों से उद्विग्न नहीं होता, परन्तु साथ ही वह स्वयं भी लोगों को उद्विग्न नहीं करता।

सीखने का प्रयत्न किये बिना सिखाने की लालसा विफल होती है। अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध प्रत्येक अच्छी बात की कसौटी होते हैं। अपने ही मन में किसी वास्तविक या कल्पित सत्य को मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। कठिनाई तब आती है, जब और पाँच आदमियों के बीच उसकी परीक्षा होती है। और यह परीक्षा आचरण की कसौटी पर कसकर ही ली जाती है।

मनुष्य सीमाओं से बँधा है। उसमें बहुत-सी कमजोरियाँ सिर्फ इसलिए हैं कि वह पूरे को देख नहीं पाता; वह क्षण-विशेष की शक्तिशाली चेतना से अभिभूत हो जाता है। उसके परिणाम के प्रति उसकी दृष्टि जाती ही नहीं। परन्तु, साथ ही वह अन्य प्राणियों से अधिक शक्ति-सम्पन्न है। उसमें प्रयत्न का अशेष भंडार है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसे इच्छाशक्ति कहते हैं, जो मनुष्य को अविचल संकल्प की प्रेरणा देती है, वह मनुष्येतर प्राणियों में विकसित नहीं हो सकी है। तांत्रिक योगियों की भाषा में कहें, तो केवल मनुष्य की ही कुंडलिनी उद्बुद्ध है, अन्यत्र वह सुप्त या निष्क्रिय है।

समाज का आत्यंतिक कल्याण शुभ बुद्धि द्वारा चालित दृढ़ संकल्प में है। यह संकल्प-शक्ति मनुष्य से असाध्य साधन कराती है। केवल उपदेश देना, भाषण देना, नारेबाजी, दृढ़ संकल्प-शक्ति का मार्ग रोकता है।

मनुष्य इतिहास को याद रखता है, अनुभवों से सीखता है, सीखे का सदुपयोग करता है और इस प्रकार सामाजिक मंगल के आदर्श को गतिशील वनाता है। गति, क्रिया से उत्पन्न होती है। इच्छाशक्ति, क्रिया से मिलकर चरितार्थ होती है। क्रियारहित इच्छा किसी भी संकल्प को रूप नहीं दे सकती।

मनुष्य आत्म-निरीक्षण की भी क्षमता रखता है। वह अपनी गलतियों और कमजोरियों को जाँच करता है; उन्हें दूर करने का प्रयत्न भी कर सकता है। प्रयत्न की क्षमता अनन्त सम्भावनाओं का कारण है। तुलसीदास और कबीरदास, कमजोरियों को इस द्वार तक पहुँचा देते हैं। साधारण मनुष्य नहीं पहुँचा पाता। पर उनकी वाणी हमें साहस देती है, मार्ग दिखाती है, प्रयत्न के स्वर्णद्वार तक पहुँचने की प्रेरणा देती है।

अनंत संभावनाओं का द्वार ही भगवान का सांमुख्य है। तुलसीदासजी ने इस वात को साधारण-जन की भाषा में समझाया है। भगवान रामचन्द्र से उन्होंने कहलाया है कि जीव जिस क्षण मेरे संमुख होता है, तो मैं उसी क्षण उसके कोटि-कोटि जन्मों का पाप नष्ट कर देता हूँ—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं, जनम कोटि अघ नासौं तबहीं ॥

जो भी निश्छल-निष्कपट भाव से अपनी सारी कमजोरियों और त्रुटियों के साथ महाअज्ञात अंतर्यामी के सामने उपस्थित हो जाता है, उसकी सारी त्रुटियाँ-विच्युतियाँ समाप्त हो जाती हैं। फिर त्रुटियाँ, त्रुटियाँ नहीं रह जातीं, पूजा का नैवेद्य वन जाती हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्या है बद्ध और सीमित जीव के पास, जिसे वह समर्पित करके महाप्रेमिक को संतुष्ट कर सके ? उस महाप्रेमिक के पास क्या नहीं है, जो उसे दिया जा सके ? कदाचित् ये कमजोरियाँ ही ऐसी हैं, जो उसके पास नहीं हैं; कदाचित् उसे पाकर ही वह संतुष्ट होता है।

कोई नहीं जानता कि वह क्यों और कैसे संतुष्ट होता है। पर इतना सभी अनुभव करते हैं कि उसके संमुख अपने आपको अनावृत रूप में समर्पण करने से नयी चेतना प्राप्त होती है। 'तथापि'........बच्चा बीमार है, कमजोर है, चिड़चिड़ा है, पर सब होते हुए भी माँ के लिए वह अजस्र प्रेम का पात्र है। सब त्रुटियाँ हैं, तथापि......यही प्रेम का मार्ग है। महाप्रेमिक भी यही कहता होगा—तथापि....।

यही कारण है कि भक्तजन अपनी त्रुटियाँ महाप्रेमिक के चरणों में निश्छलभाव से समर्पण करके आश्वस्त हो जाते हैं।

जब यह चेतना आ जाती है, तो मनुष्य के भीतर अहंकार की भावना नहीं रहती। अहंकार पृथक्त्वभाव का नाम है; अपने को सारे जगत्प्रवाह से अलग-अलग मानने का परिणाम है। अहंकार असामाजिक बनाता है। जो भगवान के सर्वमय रूप के संमुख हो चुका है, वह अहंकारी नहीं हो सकता। अहंकारी अर्थात् पृथक्त्वबुद्धि-समेत।

सामाजिक कल्याण वही कर सकता है; जो अपने को अलग न मानकर सबके साथ एकमेक अनुभव करे। वह दूसरों को मान देता है; स्वयं अमानी होता है। महाप्रभु चैतन्यदेव ने कहा था कि स्वयं अमानी रहकर और दूसरों को मान देकर श्रीभगवान की सेवा करनी चाहिए—अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः।

अपनी ही कमजोरियों का बहाना बनाकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—बहुत प्रीति पुजाइबे में पूजिबे में थोरी—पुजाना अधिक पसंद करता हूँ, पूजना कम। उनकी बात का सीधा अर्थ है कि औरों को सम्मान देने में हिचक और साथ ही स्वयं सम्मानित होने की लालसा 'प्रेयान' को प्राप्त करने में बाधक है। औरों को सम्मानित किये बिना स्वयं सम्मान पाने की इच्छा भी सामाजिक अमंगल की ओर ले जाती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

0152,6x
L5

है। दूसरों से न सीखना और दूसरों को सम्मान न देना एक ही सत्य के दो पहलू हैं। यह मनुष्य को अहंकारी और अन्धा बना देता है।

आज बहुत प्रीति पुजाइबे में पूजिबे में थोरी का जो बोलबाला है, वह बताता है कि हमारे वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार का कोई आध्यात्मिक आधार नहीं है। हम छिन्न मेघखंड की भाँति आसमान में लक्ष्यहीन भटक रहे हैं। तुलसीदासजी का आत्मनिवेदन व्यक्तिगत आत्म-निवेदन उतना नहीं है, जितना कि सामाजिक अन्यथाचरण का इंगित। हमारे प्रत्येक आचरण का कोई बड़ा व्यापक आधार चाहिए। कहाँ है?

['आकाशवाणी' से साभार उद्धृत]

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
आगत क्रमांक 0161
दिनांक 21/5/80

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

महादेवी वर्मा

[१९०७ ई०]

महादेवी वर्मा मूलतः कवियित्री ही हैं, किन्तु हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में भी उनका योगदान अप्रतिम है। इनका जन्म फरूखाबाद के एक शिक्षित एवं सम्भ्रान्त परिवार में, सन् १९०७ ई० में हुआ। शिक्षा एवं साहित्य के प्रति प्रेम इन्हें उत्तराधिकार में मिला था। माता से इन्होंने उनके स्वभाव की मृदुता, उदारता, प्राणिमात्र से प्रेम एवं ईश्वर के प्रति अनन्य आस्था रखना सीखा। अल्पायु में ही विवाह हो जाने पर भी इन्होंने प्रयाग-विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा, अपनी लगन एवं अथक प्रयास के फलस्वरूप पास की। वाद में प्रयाग ही इनका कार्यक्षेत्र बना। सम्प्रति महिला-विद्यापीठ—प्रयाग की प्रधानाचार्या हैं। बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद और मीरा के काव्य की विरहजनित पीड़ा का आप की रचनाओं पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

महादेवीजी छायावाद की प्रतिनिधि कलाकर्त्री हैं। काव्य का मूल स्वर वेदना-प्रधान है तथा कविताओं में भाव, चित्र एवं संगीत का समन्वय है।

महादेवीजी का गम्भीर-चिन्तन, उनके स्वभाव की नारीसुलभ कोमलता एवं संवेदनशीलता का स्पष्ट प्रभाव उनके गद्य पर परिलक्षित है। स्मृति की रेखाएँ, अतीत के चलचित्र, मेरा परिवार, आदि संग्रह इनके ललित एवं परिमार्जित गद्य का उदाहरण है। 'शृंखला की कड़ियाँ, 'पंथ के साथी' इनकी अन्य गद्य-रचनाएँ हैं। 'यामा' और 'दीपशिखा' की भूमिकाओं में गम्भीरता से परिपूर्ण विवेचनात्मक एवं तथ्यप्रधान गद्य का प्रयोग मिलता है।

भापा में लाक्षणिकता, आलंकारिकता एवं चित्रात्मकता है। संस्कृत के तत्सम-शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। इनकी शैली के प्रमुख दो रूप मिलते हैं—विचारात्मक तथा भावात्मक। नपे-तुले शब्दों का संयत प्रयोग, करुणा-व्यंग्य-मिश्रित शिष्ट हास्य एवं कल्पना का उच्चतम प्रकाशन इनके गद्य की अन्य विशेषताएँ हैं। विशुद्ध रूप से सर्जनात्मक होने के कारण इनके संस्मरण और रेखाचित्रों में ललित निबन्धों का वैशिष्ट्य मिलता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रामा

रामा हमारे यहाँ कब आया, यह न मैं बता सकती हूँ और न मेरे भाई-बहन। बचपन में जिस प्रकार हम बाबूजी की विविधताभरी मेज से परिचित थे, जिसके नीचे दोपहर के सन्नाटे में हमारे खिलौनों की सृष्टि बसती थी, अपने लोहे के स्प्रिंगदार विशाल पलंग को जानते थे, जिस पर सोकर हम कच्छ-मत्स्यावतार जैसे लगते थे और माँ के शंख-घड़ियाल से घिरे ठाकुरजी को पहचानते थे, जिनका भोग अपने मुँह में अन्तर्धान कर लेने के प्रयत्न में हम आँधी आँखें मींचकर बगुले के मनोयोग से घंटो की टन-टन गिनते थे, उसी प्रकार नाटे, काले और गठे शरीरवाले रामा के बड़े नखों से लम्बी-लम्बो शिखा तक हमारा सनातन परिचय था।

साँप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गाँठदार टहनियों जैसी उँगलियोंवाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी, क्योंकि मुँह धोने से लेकर सोने के समय तक हमारा उनसे जो विग्रह चलता रहता था उसकी अस्थायी सन्धि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दस भिन्न दिशाएँ खोजती हुई उँगलियों के बिखरे कुटुम्ब को बड़े-बूढ़े के समान सँभाले हुए काले स्थूल पैरों की आहट तक हम जान गये थे; क्योंकि कोई नटखटपन करके हौले से भागने पर भी वे मानो पंख लगाकर हमारे छिपने के स्थान में जा पहुँचते थे।

शैशव की स्मृतियों में एक विचित्रता है। जब हमारी भावप्रवणता गम्भीर और प्रशान्त होती है तब अतीत की रेखाएँ कुहरे में से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्ट से स्पष्टतर होने लगती हैं। पर जिस समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण करने बैठते हैं उस समय पत्थर फेंकने से हटकर मिल जानेवाली, पानी की काई के समान विस्मृति उन्हें फिर-फिर ढक लेती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहें और छोटी-छोटी स्नेह-तरल आँखें कभी-कभी स्मृति-पट पर स्पष्ट अंकित हो जाती हैं और कभी धुँधली होते-होते एकदम खो जाती हैं। किसी थके, झुँझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए-से नथुने, मुक्त हँसी से भरकर फूले हुए-से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलानेवाली सघन और सफेद, दन्तपंक्ति के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।

रामा के बालों को तो आध इंच से अधिक बढ़ने का अधिकार ही नहीं था, इसी से उसकी लम्बी शिखा को साम्य की दीक्षा देने के लिए हम कैंची लिये घूमते रहते थे। पर वह शिखा तो म्याऊँ की ठौर थी क्योंकि न तो उसका स्वामी हमारे जागते हुए सोता था और न उसके जागते हुए हम ऐसे सदनुष्ठान का साहस कर सकते थे।

कदाचित् आज कहना होगा कि रामा कुरूप था, परन्तु तब उससे भव्य साथी की कल्पना भी हमें असह्य थी।

वास्तव में जीवन, सौन्दर्य की आत्मा है, पर वह सामंजस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है उतनी विषमता में नहीं। जैसे-जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता में उलझते जाते हैं वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं। बालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नहीं होता, इसी से वह केवल जीवन को पहचानता है। जहाँ उसे जीवन से स्नेह-सद्भाव की किरणें फूटती जान पड़ती हैं वहाँ वह व्यक्त विषम रेखाओं की उपेक्षा कर डालता है और जहाँ द्वेष, घृणा आदि के धूम से जीवन ढका रहता है वहाँ वह बाह्य सामंजस्य को भी ग्रहण नहीं करता।

इसी से रामा हमें बहुत अच्छा लगता था। जान पड़ता है, उसे भी अपनी कुरूपता का पता नहीं था, तभी तो वह केवल एक मिर्जई और घुटनों तक ऊँची धोती पहनकर अपनी कुडौलता के अधिकांश की प्रदर्शनी करता रहता था। उसके पास सजने के उपयुक्त सामग्री का अभाव नहीं था; क्योंकि कोठरी में अस्तर लगा लम्बा कुरता, बँधा हुआ साफा, बुन्देलखण्डी जूते और गठीली लाठी किसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जान पड़ते थे। उनकी अखण्ड प्रतीक्षा और रामा की अटूट उपेक्षा से द्रवित होकर ही कदाचित् हमारी कार्यकारिणी समिति में यह प्रस्ताव नित्य सर्वमत से पास होता रहता था कि कुरते की बाँहों में लाठी को अटकाकर खिलौनों का परदा बनाया जावे, डलिया जैसे साफे को खूँटी से उतारकर उसे गुड़ियों का हिंडोला बनने का सम्मान दिया जावे और बुन्देलखण्डी जूतों को हौज में डालकर गुड्डों के जल-विहार का स्थायी प्रबन्ध किया जावे। पर रामा अपने अँधेरे दुर्ग के चर्रमर्र में डाटते हुए द्वार को इतनी ऊँची अर्गला से बन्द रखता था कि हम स्टूल पर खड़े होकर भी छापा न मार सकते थे।

रामा के आगमन की जो कथा हम बड़े होकर सुन सके वह भी उसी के समान विचित्र है। एक दिन जब दोपहर को माँ बड़ी, पापड़ आदि के अक्षयकोष को धूप दिखा रही थीं तब न जाने कब दुर्बल और क्लान्त रामा आँगन के द्वार की देहली पर बैठकर किवाड़ से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होंने निकट जाकर प्रश्न किया तब वह "ए मताई, ए रामा तो भूखन के मारे जो चलो" कहते हुए उनके पैरों पर लोट गया। दूध, मिठाई आदि का रसायन देकर माँ जब रामा को पुनर्जीवन दे चुकीं तब समस्या और भी जटिल हो गयी, क्योंकि भूख तो ऐसा रोग नहीं जिसमें उपचार का क्रम टूट सके।

वह बुन्देलखण्ड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से भाग-कर माँगता-खाता इन्दौर तक जा पहुँचा था, जहाँ न कोई अपना था और न रहने का ठिकाना। ऐसी स्थिति में रामा यदि माँ की ममता का सहज ही अधिकारी बन बैठा तो आश्चर्य क्या!

उस दिन सन्ध्या समय जब बाबूजी लौटे तब लकड़ी रखने की कोठरी के एक कोने में रामा के बड़े-बड़े जूते विश्राम कर रहे थे और दूसरे में लम्बी लाठी समाधिस्थ थी। और हाथ-मुँह धोकर नये सेवाव्रत में दीक्षित रामा हक्का-बक्का-सा अपने कर्तव्य का अर्थ और सीमा समझने में लगा हुआ था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बाबूजी तो उसके अपरूप रूप को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गये। हँसते-हँसते पूछा—यह किस लोक का जीव ले आये हैं धर्मराजजी ? माँ के कारण हमारा घर अच्छा खासा जू बना रहता था। बाबूजी जब लौटते तब प्रायः कभी कोई लँगड़ा भिखारी बाहर के दालान में भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खँजड़ी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र बालक नया कुरता पहनकर आँगन में चौकड़ी भरता दिखायी देता और कभी कोई वृद्धा ब्राह्मणी भंडारघर की देहली पर सीधा गठियाते मिलती।

बाबूजी ने माँ के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की, पर उन्हें चिढ़ाने में वे सुख का अनुभव करते थे।

रामा को भी उन्होंने क्षणभर का अतिथि समझा, पर माँ शीघ्रता में कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठीं, "मैंने खास अपने लिए इसे नौकर रख लिया है।"

जो व्यक्ति कई नौकरों के रहते हुए भी क्षणभर विश्राम नहीं करता वह केवल अपने लिए नौकर रखे यही कम आश्चर्य की बात नहीं, उस पर ऐसा विचित्र नौकर। बाबूजी का हँसते-हँसते बुरा हाल हो गया—विनोद से कहा—"ठीक ही है, नास्तिक जिनसे डर जावें ऐसे खास साँचे में ढले सेवक ही तो धर्मराजजी की सेवा में रह सकते हैं।"

उन्हें अज्ञात कुलशील रामा पर विश्वास नहीं हुआ, पर माँ से तर्क करना व्यर्थ होता, क्योंकि वे किसी की पात्रता-अपात्रता का मापदण्ड अपनी सहज समवेदना ही को मानती थीं। रामा की कुरूपता का आवरण भेदकर उनकी सहानुभूति ने जिस सरल हृदय को परख लिया उसमें अक्षय सौन्दर्य न होगा, ऐसा सन्देह उनके लिए असम्भव था।

इस प्रकार रामा हमारे यहाँ रह गया, पर उसका कर्तव्य निश्चित करने की समस्या नहीं सुलझी।

सब कामों के लिए पुराने नौकर थे और अपने पूजा और रसोईघर का कार्य माँ किसी को सौंप ही नहीं सकती थीं। आरती, पूजा आदि के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्ध में उनका नियम जैसा निश्चित और अपवादहीन था, भोजन बनाने के सम्बन्ध में उससे कम नहीं।

एक ओर यदि उन्हें विश्वास था कि उपासना उनकी आत्मा के लिए अनिवार्य है तो दूसरी ओर दृढ़ धारणा थी कि उनका स्वयं भोजन बनाना हम सबके शरीर के लिए एकान्त आवश्यक है।

हम सब एक-दूसरे से दो-दो वर्ष छोटे-बड़े थे, अतः हमारे अबोध और समझदार होने के समय में विशेष अन्तर नहीं रहा। निरन्तर यज्ञ-ध्वंस में लगे दानवों के समान माँ के सभी महान् अनुष्ठानों में बाधा डालने की ताक में मँडराते रहते थे, इसी से वे रामा को, हम विद्रोहियों को वश में रखने का गुरु कर्त्तव्य सौंपकर कुछ निश्चिन्त हो सकीं।

रामा सबेरे ही पूजा-घर साफकर वहाँ के वर्तनों को नीबू से चमका देता—तब वह हमें उठाने आता। उस बड़े पलंग पर सवेरे तक हमारे सिर-पैर की दिशा और स्थितियों में न जाने कितने उलट-फेर हो चुकते थे। किसी की गर्दन को किसी का पाँव नापता रहता था, किसी के हाथ पर किसी का सर्वाङ्ग तुलता होता था और किसी की साँस रोकने के लिए किसी की पीठ दीवार बनी मिलती थी। सब परिस्थितियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए रामा का कठोर हाथ कोमलता के छद्म-वेश में, रजाई या चादर पर एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आता था और तब वह किसी की गोद के रथ, किसी को कन्धे से घोड़े पर तथा किसी को पैदल ही, मुखप्रक्षालन जैसे समारोह के लिए ले जाता।

हमारा मुँह-हाथ धुलाना कोई सहज अनुष्ठान नहीं था, क्योंकि रामा को 'दूध बतासा राजा खाय' का महामन्त्र तो लगातार जपना ही पड़ता था, साथ ही हम एक-दूसरे का राजा बनना भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे। रामा जब मुझे राजा कहता तब नन्हेंबाबू चिड़िया की चोंच जैसा मुँह खोलकर बोल उठता, 'लामा' इन्हें कों लाजा कहते हो?' कहने में भी असमर्थ उस छोटे पुरुष का दम्भ कदाचित् मुझे बहुत अस्थिर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर देता था। रामा के एक हाथ की चक्रव्यूह जैसी उँगलियों में मेरा सिर अटका रहता था और दूसरे हाथ की तीन गहरी रेखाओंवाली हथेली सुदर्शन-चक्र के समान मेरे मुख पर मलिनता की खोज में घूमती थी। इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसी से मैं साम-दाम-दण्ड-भेद के द्वारा रामा को वाध्य कर देती कि वह केवल मुझी को राजा कहे। रामा ऐसे महारथियों को सन्तुष्ट करने का अमोघ मन्त्र जानता था। वह मेरे कान में हौले से कहता "तुमई वड्डे राजा हौ जू, नन्हे नइयाँ" और कदाचित् यही नन्हें के कान में भी दोहराया जाता, क्योंकि वह उत्फुल्ल होकर मंजन की डिविया में नन्हीं उँगली डालकर दाँतों के स्थान में ओठ माँजने लगता। ऐसे काम के लिए रामा का घोर निषेध था, इसी से मैं उसे ऐसे गर्व से देखती मानो वह सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला मूर्ख सैनिक हो।

तब हम तीनों मूर्तियाँ एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे-बड़े चम्मच, दूध का प्याला, फलों की तश्तरी आदि लेकर ऐसे विचित्र और अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिए सामने आ वैठता। पर वह था वड़ा घाघ पुजारी। न जाने किस साधना के वल से देवताओं की आँख मूँदकर कौवे द्वारा पुजापा पाने को उत्सुक कर देता। जैसे ही हम आँख मूँदते वैसे ही किसी के मुँह में अंगूर, किसी के दाँतों में विस्कुट और किसी के ओठों में दूध का चम्मच जा पहुँचता। न देखने का तो अभिनय ही था, क्योंकि हम सभी अधखुली आँखों से रामा की काली मोटी उँगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे। और सच तो यह है कि मुझे कौवे की काली, कठोर और अपरिचित चोंच से भय लगता था। यदि कुछ खुली आखों से मैं काल्पनिक कौवे और उसकी चोंच में रामा के हाथ और उँगलियों को न पहचान लेती तो मेरा भोग का लालच छोड़कर उठ भागना अवश्यम्भावी था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जलपान का विधान समाप्त होते ही रामा की तपस्या की इति नहीं हो जाती थी। नहाते समय आँख को साबुन के फेन से तरंगित और कान को सूखा द्वीप बनने से बचाना, कपड़े पहनते समय उनके उलटे-सीधे रूपों में अतर्क वर्ण-व्यवस्था बनाये रहना, खाते समय भोजन की मात्रा और भोक्ता की सीमा में अन्याय न होने देना, खेलते समय यथावश्यकता हमारे हाथी, घोड़ा, उड़नखटोला आदि के अभाव को दूर करना और सोते समय हम पर पंख जैसे हाथों को फैलाकर कथा सुनाते-सुनाते हमें स्वप्न-लोक के द्वार तक पहुँचा आना रामा का ही कर्तव्य था।

हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उस पर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था। एक दिन दशहरे का मेला देखने का हठ करने पर रामा बहुत अनुनय-विनय के उपरान्त माँ से, हमें कुछ देर के लिए ले जाने की अनुमति पा सका। खिलौने खरीदने के लिए जब उसने एक को कन्धे पर बैठाया और दूसरे को गोद लिया तब मुझे उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा, "उँगरियाँ जिन छोड़ियो राजा भइया"। सिर हिलाकर स्वीकृति देते-देते ही मैंने उँगली छोड़कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते और दबने से बचते-बचते जब मुझे भूख लगी तब रामा का स्मरण आना स्वाभाविक था। एक मिठाई की दुकान पर खड़े होकर मैंने यथासम्भव उद्विग्नता छिपाते हुए प्रश्न किया, "क्या तुमने रामा को देखा है? वह खो गया है।" बूढ़े हलवाई ने धुँधली आँखों में वात्सल्य भरकर पूछा, "कैसा है तुम्हारा रामा?" मैंने ओंठ दबाकर सन्तोष के साथ कहा, "बहुत अच्छा है।" इस हुलिया से रामा को पहचान लेना कितना असम्भव था, यह जानकर ही कदाचित् वृद्ध कुछ देर वहीं विश्राम कर लेने के लिए आग्रह करने लगा। मैं हार मानना नहीं चाहती थी, परन्तु पाँव थक चुके थे और मिठाइयों से सजे थालों में कुछ कम निमन्त्रण नहीं था, इसी से दुकान के एक कोने में बिछे टाट पर सम्मान्य अतिथि की मुद्रा में बैठकर मैं बूढ़े से मिले मिठाई रूपी अर्घ्य को स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान् यात्रा की कथा सुनाने लगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वहाँ मुझे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते रामा के प्राण कण्ठगत हो रहे थे। सन्ध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दुकान के सामने पहुँचा तब मैंने विजय-गर्व से फूलकर कहा, तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो रामा !" रामा के कुम्हलाये मुख पर ओस के विन्दु जैसे आनन्द के आँसू ढुलक पड़े। वह मुझे घुमा-घुमाकर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा मानो मेरा कोई अग मेले में छूट गया हो। घर लौटने पर पता चला कि बड़ों के कोश में छोटों की ऐसी वीरता का नाम अप-राध है, पर मेरे अपराध को अपने ऊपर लेकर डाँट-फटकार भी रामा ने सही और हम सबको सुलाते समय उसकी वात्सल्य-भरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मैं ही रही।

एक वार अपनी और परायी वस्तु का सूक्ष्म और गूढ़ अन्तर स्पष्ट करने के लिए रामा चतुर भाष्यकार बना। बस फिर क्या था। कहाँ से कौन-सी परायी चीज लाकर रामा की छोटी आँखों को निराश-विस्मय से लवालव भर दें, इसी चिन्ता में हमारे मस्तिष्क एकवारगी क्रियाशील हो उठे।

हमारे घर से एक ठाकुरसाहव का घर कुछ इस तरह मिला हुआ था कि एक छत से दूसरी छत तक पहुँचा जा सकता था—हाँ, राह एक वालिश्त चौड़ी मुँडेर मात्र थी, जहाँ से पैर फिसलने पर पाताल नाप लेना सहज हो जाता।

उस घर के आँगन में लगे फूल परायी वस्तु की परिभाषा में आ सकते हैं। यह निश्चित कर लेने के उपरान्त हमलोग एक दोपहर को, केवल रामा को खिझाने के लिए उस आकाशमार्ग से फूल चुराने चले। किसी का भी पैर फिसल जाता तो कथा और ही होती, पर भाग्य से हम दूसरी छत तक सकुशल पहुँच गये। नीचे के ज़ीने की अन्तिम सीढ़ी पर एक कुत्ती नन्हें-नन्हें बच्चे लिये बैठी थी। जिन्हें देखते ही हमें वस्तु के सम्बन्ध में अपना निश्चय वदलना पड़ा। पर ज्योंही हमने एक पिल्ला उठाया त्योंही वह निरीह-सी माता अपने इच्छा-भरे अधिकार की घोषणा से धरती, आकाश एक करने लगी। वैठक से जब कुछ अस्त-व्यस्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भाववाले गृहस्वामी निकल आये और शयनागार से जब आलस्यभरी गृहस्वामिनी दौड़ पड़ीं तब हम बड़े असमंजस में पड़ गये। ऐसी स्थिति में क्या किया जाता है यह तो रामा के व्याख्यान में था ही नहीं, अतः हमने अपनी बुद्धि का सहारा लेकर सारा मन्तव्य प्रकट कर दिया। कहा, "हम छत की राह से फूल चुराने आये हैं।" गृहस्वामी हँस पड़े—पूछा, "लेते क्यों नहीं ?" उत्तर भी गम्भीर मिला, "अब कुत्ती का पिल्ला चुरायेंगे।" पिल्ले को दबाये हुए जब तक हम उचित मार्ग से लौटे तब तक रामा ने हमारी डकैती का पता लगा लिया था। अपने उपदेशरूपी अमृतवृक्ष में यह विषफल लगते देख वह एकदम अस्थिर हो उठा होगा; क्योंकि उसने आकाशी डाकुओं के सरदार को दोनों कानों से पकड़कर घर में उठाते हुए पूछा, "कहो जू, कहो जू, किते गये रहे ?" पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था, इसीसे दाँत से ओठ दबाकर मैंने यह अभूतपूर्व दण्ड सहा और फिर बहुत संयत क्रोध के साथ माँ से कहा, रामा ने मेरे कान खींचकर टेढ़े भी कर दिये हैं और बड़े भी—अब डॉक्टर को बुलाकर इन्हें ठीक करवा दो और रामा को अँधेरी कोठरी में बन्द कर दो।" वे तो हमारे अपराध से अपरिचित थीं और रामा प्राण रहते बता नहीं सकता था, इसलिए उसे बच्चों से दुर्व्यवहार न करने के सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक उपदेश सुनना पड़ा। वह अपने व्यवहार के लिए सचमुच बहुत लज्जित था, पर जितना ही वह मनाने का प्रयत्न करता था उतना ही उसके राजा भइया को कान का दर्द याद आता था। फिर भी संध्या समय रामा को खिन्नमुद्रा में बाहर बैठा देखकर मैंने "गीत सुनाओ" कहकर सन्धि का प्रस्ताव कर ही दिया। रामा को एक भजन भर आता था—"ऐसो सिय रघुवीर भरोसो" और उसे वह जिस प्रकार गाता था उससे पेड़ पर के चिड़िया-कौवे तक उड़ सकते थे। परन्तु हमलोग उस अपूर्व गायक के अद्भुत श्रोता थे—रामा केवल हमारे लिए गाता और हम केवल उसके लिए सुनते थे।

मेरा बचपन समकालीन बालिकाओं से कुछ भिन्न रहा, इसी से रामा का उसमें विशेष महत्त्व है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उस समय परिवार में कन्याओं की अभ्यर्थना नहीं होती थी। आँगन में गानेवालियाँ, द्वार पर नौबतवाले और परिवार के बूढ़े से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गयी। बड़ी-बूढ़ियाँ संकेत से मूक गानेवालियों को जाने के लिए कह देतीं और बड़े-बूढ़े इशारे से नीरव बाजेवालों को विदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।

हमारे कुल में कब ऐसा हुआ यह तो पता नहीं, पर जब दीर्घकाल तक कोई देवी नहीं पधारीं तब चिन्ता होने लगी, क्योंकि जैसे अश्व के बिना अश्वमेध नहीं हो सकता वैसे ही कन्या के बिना कन्यादान का महायज्ञ सम्भव नहीं।

बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त जब मेरा जन्म हुआ तब बाबा ने इसे अपनी कुलदेवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित करने के लिए अपना फारसी ज्ञान भूलकर एक ऐसा पौराणिक नाम ढूँढ़ लाये जिसकी विशालता के सामने कोई मुझे छोटा-मोटा घर का नाम देने का भी साहस न कर सका। कहना व्यर्थ है कि नाम के उपयुक्त बनाने के लिए सब बचपन से ही मेरे मस्तिष्क में इतनी विद्या-बुद्धि भरने लगे कि मेरा अबोध मन विद्रोही हो उठा। निरक्षर रामा की स्नेह-छाया के बिना मैं जीवन की सरलता से परिचित हो सकती थी या नहीं, इसमें सन्देह है। मेरी पट्टी पुज चुकी थी और मैं, आ पर उँगली रखकर आदमी के स्थान में आम, आलमारी, आज आदि के द्वारा मन की बात कह लेती थी। ऐसी दशा में मैं अपने भाई-बहिनों के निकट शुक्राचार्य से कम महत्त्व नहीं रखती थी। मुझे उनके सभी कार्यों का समर्थन या विरोध पुस्तक में ढूँढ़ लेने की क्षमता प्राप्त थी और मेरी इस क्षमता के कारण उन्हें निरन्तर सतर्क रहना पड़ता था। नन्हेंबाबू उछला नहीं कि मैंने किताब खोलकर पढ़ा, "बन्दर नाच दिखाने आया," मुन्नी रूठी नहीं कि मैंने सुनाया, "रूठी लड़की कौन मनावे, गरज पड़े तब दौड़ी आवे।" वे बेचारे मेरे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शास्त्र-ज्ञान से बहुत चिन्तित रहते थे, क्योंकि मेरे किसी कार्य के लिए दृष्टान्त ढूँढ़ लेने का साधन उनके पास नहीं था। पर अक्षरज्ञानी शुक्राचार्य निरक्षर रामा से पराजित हो जाते थे। उसके पास कथा, कहानी, कहावत आदि का जैसा वृहत् कोश था वैसा सौ पुस्तकों में भी न समाता। इसी से जब मेरा शास्त्र-ज्ञान महाभारत का कारण बनता तब वह न्यायाधीश होकर और अपना निर्णय सबके कान में सुनाकर तुरन्त सन्धि करा देता।

मेरे पण्डितजी से रामा का कोई विरोध न था, पर जब खिलौनों के बीच ही में मौलवीसाहब, संगीतशिक्षक और ड्राइंगमास्टर का आविर्भाव हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया। कदाचित् वह जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझसे न सँभल सकेगा।

मौलवीसाहब से तो मैं इतना डरने लगी थी कि एक दिन पढ़ने से बचने के लिए बड़े से झाबे में छिपकर बैठना पड़ा। अभाग्य से झाबा वही था जिसमें बाबा के भेजे आमों में से दो-चार शेष भी थे। उन्हें निकालकर कुछ और भरने के लिए रामा जब पूरे झाबे को, उसके भारीपन पर विस्मित होता हुआ, माँ के सामने उठा लाया तब समस्या बहुत जटिल हो गयी। जैसे ही उसने ढक्कन हटाया कि मुझे पलायमान होने के अतिरिक्त कुछ न सूझा। अन्त में रामा और माँ के प्रयत्न ने मुझे उर्दू पढ़ने से छुट्टी दिला दी।

ड्राइंग-मास्टर से मुझे कोई शिकायत नहीं रही, क्योंकि वे खेलने से रोकते ही नहीं थे। सब कागजों पर दो लकीरें सीधी खड़ी करके और उन पर एक गोला रखकर मैं रामा का चित्र बना देती थी—जब किसी और का बनाना होता तब इसी ढाँचे में कुछ पच्चीकारी कर दी जाती थी।

नारायण महाराज से न मैं प्रसन्न रहती थी, न रामा। जब उन्होंने पहले दिन संगीत सीखने के सम्बन्ध में मुझसे प्रश्न किया तब मैंने बहुत विश्वास के साथ बता दिया कि मैं रामा से सीखती हूँ—जब उन्होंने सुनाने का अनुरोध किया तब मैंने रामा का वही भजन ऐसी विचित्र भावभंगी से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुना दिया कि वे अवाक् हो रहे। उस पर जव उन्होंने मेरे सेवकगुरु रामा को अपने से वड़ा और योग्य गायक नहीं माना तव मेरा अप्रसन्न हो जाना स्वाभाविक था

रामा के विना भी संसार का काम चल सकता है, यह हम नहीं मान सकते थे। माँ जव १०-१५ दिन के लिए नानी देखने जातीं तव रामा को घर और वावूजी की देख-भाल के लिए रहना पड़ता था। विना रामा के हम जाने के लिए किसी प्रकार भी प्रस्तुत नहीं होते, अतः वे हमें भी छोड़ जातीं।

वीमारी के सम्वन्ध में रामा से अधिक सेवापरायण और सावधान व्यक्ति मिलना कठिन था। एक वार जव छोटे भाई के चेचक निकली तव वह शेष को लेकर ऊपर के खण्ड में इस तरह रहा कि हमें भाई का स्मरण ही नहीं आया। रामा की सावधानी के कारण ही मुझे कभी चेचक नहीं निकली।

एक वार और उसी के कारण मैं एक भयानक रोग से वच सकी हूँ। इन्दौर में प्लेग फैला हुआ था और हम शहर से वाहर रहते थे। माँ और कुछ महीनों की अवस्थावाला छोटा भाई इतना वीमार था कि वावूजी हम तीनों की खोज-खवर लेने का अवकाश कम पाते थे। ऐसे अवसरों पर रामा अपने स्नेह से हमें इस प्रकार घेर लेता था कि और किसी अभाव की अनुभूति ही असम्भव हो जाती थी।

जव हम सघन आम की डाल में पड़े झूले पर वैठकर रामा की विचित्र कथाओं को वड़ी तन्मयता से सुनते थे तभी एक दिन हल्के-से ज्वर के साथ मेरे कान के पास गिल्टी निकल आयी। रामा ने एक वुढ़िया की कहानी सुनायी थी, जिसके फूल पैर में से भगवान् ने एक वीर मेंढक उत्पन्न कर दिया था। मैंने रामा को यह समाचार देते हुए कहा, "मालूम होता है मेरे कान से कहानीवाला मेंढक निकलेगा।" वह वेचारा तो सन्न हो गया। फिर ईंट के गरम टुकड़े को गीले कपड़े में लपेटकर उसे कितना सेंका, यह वताना कठिन है। सेंकते-सेंकते वह न जाने क्या वड़वड़ाता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहता था जिसमें कभी देवी, कभी हनुमान और कभी भगवान् का नाम सुनायी दे जाता था। दो दिन और दो रात वह मेरे बिछौने के पास से हटा नहीं—तीसरे दिन मेरी गिल्टी बैठ गयी पर रामा को तेज बुखार चढ़ आया। उसके गिल्टी निकली, चीरी गयी और वह बहुत बीमार रहा, पर उसे सन्तोष था कि मैं सब कष्टों से बच गयी। जब दुर्बल रामा के बिछौने के पास माँ हमें ले जा सकीं तब हमें देखकर उसके सूखे ओठ मानो हँसी से भर आये, धँसी आँखें उत्साह में तैरने लगीं और शिथिल शरीर में एक स्फूर्ति तरंगित हो उठी। माँ ने कहा, "तुमने इसे बचा लिया था रामा। जो हम तुम्हें न बचा पाते तो जीवनभर पछताना रह जाता।" उत्तर में रामा बढ़े हुए नाखूनवाले हाथ से माँ के पैर छूकर अपनी आँखें पोंछने लगा। रामा जब अच्छा हो गया तब माँ प्राय: कहने लगीं, "रामा, अब तुम घर बसा लो, जिससे अपने बाल-बच्चों का सुख देख सको।" "बाई की बातें! मोय नासपिटे अपनन खौं का कनने हैं, मोरे राजा हरे बने रहें—जेई अपने रामा को नैय्या पार लगा देहें" ही रामा का उत्तर रहता था। वह अपने भावी बच्चों को लक्ष्यकर इतनी बातें सुनाता था कि हम उसके बच्चों की हवाई स्थिति से ही परिचित नहीं हो गये थे, उन्हें अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी पहचान गये थे। हमें विश्वास था कि यदि उसके बच्चे हमारे जैसे होते तो वह उन्हें कभी नासपिटा, मुँहझौंसा आदि कहकर स्मरण न करता।

फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी-जूता आदि निकालकर और गुलाबी साफा बाँधकर रामा आँगन में आ खड़ा हुआ तब हम सब बहुत सभीत हो गये, क्योंकि ऐसी सज-धज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर सन्देहभरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया, "क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा?" रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया, "हाँ राजा भइया, ऐसी देंहो नासपिटन के।" पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू की माँ के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य नवीन उपाय सोचने पड़े।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हमारे लिए अनन्त और दूसरों के लिए कुछ समय के उपरान्त एक दिन सवेरे ही केसरिया साफा और ग़ुलाबी धोती में सजा हुआ रामा दरवाजे पर आ खड़ा हुआ और राजा भइया, राजा भइया पुकारने लगा—हम सब गिरते-पड़ते दौड़ पड़े, पर बरामदे ही में सहमकर अटक रहे। रामा तो अकेला नहीं था। उसके पीछे एक लाल धोती का कछोटा लगाये और हाथ में चूड़े और पाँव में पैजना पहने जो घूँघटवाली स्त्री खड़ी थी उसने हमें एक साथ ही उत्सुक और सशंकित कर दिया।

मुन्नी जब रामा के कुरते को पकड़कर झूलने लगी तब नाक की नोक को छू लेनेवाले घूँघट में से दो तीक्ष्ण आँखें कार्य का मूक विरोध करने लगीं। नन्हें जब रामा के कन्धे पर आसीन होने के लिए जिद करने लगा तब घूँघट में छिपे सिर में एक निषेध-सूचक कम्पन जान पड़ा और जब मैंने झुककर उस नवीन मुख को देखना चाहा तब वह मूर्ति घूमकर खड़ी हो गयी। भला ऐसे आगन्तुक से हम कैसे प्रसन्न हो सकते थे! जैसे-जैसे समम बीतता गया, वैसे-वैसे रामा की अँधेरी कोठरी में महाभारत के अंकुर जमते गये और हमारे खेल के संसार में सूखा पड़ने की सम्भावना बढ़ती गयी। हमारे खिलौनों के नगर बसाने के लिए रामा विश्वकर्मा भी था और मयदानव भी, पर अब वह अपने गुरु कर्तव्य के लिए अवकाश हो नहीं पाता था। वह आया नहीं कि घूँघटवाली मूर्ति पीछे-पीछे आ पहुँची और उसके मूक असहयोग से हमारा और रामा का ही नहीं, गुड्डे-गुड़ियों का भी दम घुटने लगता था। इसी से एक दिन हमारी युद्ध-समिति बैठी। राजा को ऊँचे स्थान में बैठना चाहिए, अतः मैं मेज पर चढ़कर धरती तक न पहुँचनेवाले पैर हिलाती हुई विराजी, मन्त्री महोदय कुर्सी पर आसीन हुए और सेनापतिजी स्टूल पर जमे। तब राजा ने चिन्ता की मुद्रा से कहा, "रामा इसे क्यों लाया है?" मन्त्रीजी ने गम्भीर भाव से सिर हिलाते हुए दोहराया—"रामा इसे क्यों लाया है?" और सेनापति महोदय से न कह सकने की असमर्थता छिपाने के लिए आँखें तरेरते हुए बोले—छच है, इछे कौं लाया है?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फिर उस विचित्र समिति में सर्वमत से निश्चित हुआ कि जो जीव हमारे एकच्छत्र अधिकार की अवज्ञा करने आया है उसे न्याय की मर्यादा के रक्षार्थ दण्ड मिलना ही चाहिए। वह कार्य नियमानुसार सेनापतिजी को सौंपा गया।

रामा की वहू जब रोटी बनाती तब नन्हेंबाबू चुपके से उसके चौके के भीतर विस्कुट रख आता, जब वह नहाती तब लकड़ी से उसकी सूखी धोती नीचे गिरा देता। इस प्रकार न जाने कितने दण्ड उसे मिलने लगे, पर उसकी ओर से न क्षमायाचना हुई और न सन्धि का प्रस्ताव आया। केवल वह अपने विरोध में और अधिक दृढ़ हो गयी और हमारे अपकारों का प्रतिशोध बेचारे रामा से लेने लगी। उसके साँवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुण्ठन पड़ा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसी से हमारे ही समान अबोध रामा पहले हतवुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अन्त में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ में ही नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे और रख दे तो स्वयं जिये कैसे ? फिर एक दिन रामा की वहू रूठकर मायके चल दी।

रामा ने तो मानो किसी अप्रिय बन्धन से मुक्ति पायी, क्योंकि वह हमारी अद्भुत सृष्टि का फिर वही चिर प्रसन्न विधाता बनकर बहू को ऐसे भूल गया जैसे वह पानी की लकीर थी।

पर माँ को अन्याय का कोई भी रूप असह्य था—रामा अपनी पत्नी को हमारे पुराने खिलौनों के समान फेंक दे, यह उन्हें बहुत अनुचित जान पड़ा। इसलिए रामा को कर्तव्य-ज्ञान-सम्बन्धी विशद और जटिल उपदेश मिलने लगे। इस बार रामा के जाने में वही करुण विवशता जान पड़ती थी जो उस विद्यार्थी में मिलती है जिसे पिता के स्नेह के कारण मास्टर से पिटने जाना पड़ता है।

उस बार जाकर फिर लौटना सम्भव न हो सका। बहुत दिनों के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पड़ा है। माँ ने रुपये भेजे, आने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के लिए पत्र लिखा, पर उसे जीवन-पथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।

हम सब खिलौने रखकर शून्यदृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हेंबाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था, पर उड़नेवाला घोड़ा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी। मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी-लाल झण्डी दिखानेवाले के बिना उसका चलना-ठहरना सम्भव नहीं हो सकता था। मुझे गुड़िया का विवाह करना था, पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।

हमारी संख्या चार तक पहुँचानेवाला छोटे भइया ढाई वर्ष का हो चुका था और हमारे निर्माण को ध्वंस बनाने के अभ्यास में दिनोंदिन तत्पर होता जा रहा था। उसे खिलौनों के बीच में प्रतिष्ठित कर हम सब बारी-बारी से रामा की कथा सुनाने के उपरान्त कह देते थे कि रामा जब गुलाबी साफा बाँधकर लाठी लिये हुए लौटेगा तब तुम गड़बड़ न कर सकोगे। पर हमारी कहानी के उपसंहार के लिए रामा कभी न लौटा।

आज मैं इतनी बड़ी हो गयी हूँ कि राजा भइया कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना जैसी जान पड़ती हैं और खिलौनों के संसार का सौन्दर्य भ्रान्ति हो गया है। पर रामा आज भी सत्य है, सुन्दर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत में खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक्, निस्तन्द्र पर स्नेहतरल।

('अतीत के चलचित्र' से)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

[१९११ ई०]

हिन्दी-साहित्य के यशस्वी कलाकार अज्ञेय का व्यक्तित्व और कृतित्व—सभी दृष्टियों से दूसरों से विशिष्ट हैं और इसीलिए कुछ सीमा तक रहस्यमय भी। सम्भवतः हिन्दी में इतना चर्चित और विवादास्पद व्यक्तित्व दूसरा नहीं। इनका जन्म ७ मार्च, सन् १९११ ई० को कसया में हुआ था। इनका बचपन लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता। शिक्षा मुख्य रूप से मद्रास और लाहौर में हुई। पंजाब विश्वविद्यालय से बी०, एस-सी०, परीक्षा पास करके एम० ए० में प्रवेश लिया, किन्तु देशभक्ति की धुन में अभियुक्त बनकर जेल जाना पड़ा और अध्ययन का क्रम टूट गया। 'सैनिक', 'विशाल भारत', 'प्रतीक', 'दिनमान' आदि पत्रिकाओं का सम्पादन किया। कुछ वर्षों तक आकाशवाणी के सलाहकार भी रहे। १९४३ से १९४६ तक सेना में रहे। अनेक बार आप भ्रमण एवं अध्यापन के सिलसिले में विदेश भी हो आये हैं। विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन से इन्हें डी० लिट्० की सम्माननीय उपाधि मिल चुकी है।

अज्ञेय एक साथ प्रतिभा-सम्पन्न समर्थ शैलीकार, सिद्धहस्त उपन्यासकार, कथा-साहित्य को नयी दिशा देनेवाले कथाकार, ललित निबन्धकार, कुशल सम्पादक और सफल अध्यापक सभी कुछ हैं। इसके अतिरिक्त वे एक अच्छे चित्रकार और सत्यान्वेषी पर्यटक भी हैं।

आज का हिन्दी लेखन इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से बेतरह प्रभावित है। नयी कविता और प्रयोगवाद को प्रतिष्ठित करने में अज्ञेय का हाथ है।

अब तक उनके प्रकाशित निबन्ध-संग्रहों में 'आलवाल', 'सबरंग और कुछ राग', 'आत्मनेपद', त्रिशंकु और भवन्ती है। 'अरे यायावर रहेगा याद', एक बूँद सहसा उछली' सुन्दर यात्रा-वृतान्त हैं।

भाषा पर अज्ञेय का अन्यतम अधिकार है। पंजाबी, बंगाली, काश्मीरी और मद्रासी भाषा का अच्छा ज्ञान है और इनकी भाषा पर इनका प्रभाव भी परिलक्षित है। हिन्दी पर उनका असाधारण अधिकार उनकी अलौकिक प्रतिभा का परिचायक है, क्योंकि हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुराण और संस्कृति

संसार के विभिन्न देशों की भाँति हमारे देश में भी जब-जब देश के शान्त अथवा परम्पराबद्ध सांस्कृतिक वातावरण में किसी बाहरी शक्ति के प्रवेश के कारण हलचल उत्पन्न हुई है, तब-तब देश के जीवन में एक नयी सांस्कृतिक जागृति देखने में आयी है। एक विशेष सीमा तक यह स्थापित अथवा प्रचलित सांस्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा के प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाली जागृति थी—क्योंकि बहुधा बाहरी शक्ति एक अधिक बलवान किन्तु कम विकसित संस्कृति के रूप में ही आती थी, जिसे आक्रमण करनेवाली जाति अपनी नयी शक्ति अथवा विजय के दर्पोन्माद में बलपूर्वक विजित जाति पर आरोपित करना चाहती थी। प्रागैतिहासिक काल में अनेक बार ऐसा हुआ होगा, ऐतिहासिक काल में भी इसके उदाहरण ढूँढ़ते देर न लगेगी। मध्ययुग तक में पश्चिमोत्तर दिशा से आक्रमण की जो अनेक लहरें आयीं, उनके साथ ही एक अपेक्षाकृत कम विकसित और सांस्कृतिक जीवन-परिपाटी भारत में प्रविष्ट हुई। और कभी-कभी तो आक्रमणकारियों में उनकी दुर्दम जीवन-शक्ति के अतिरिक्त सांस्कृतिक पूँजी के नाम पर कुछ भी न रहा।

किन्तु यह मानना पड़ेगा कि सांस्कृतिक नवचेतन का कारण सदा यह आत्म-रक्षामूलक प्रयत्न नहीं रहता रहा। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि वह नवचेतन केवल अपनी ही संस्कृति की ओर उन्मुख नहीं रहा, बल्कि दोनों पक्षों ने बड़े परिश्रम के साथ परस्पर विचारों और जीवन-परिपाटियों का अध्ययन किया और उससे भरपूर लाभ उठाया। हम क्षणभर विचार करें कि अकबर के दरबार के मुसलमान विद्वानों में से कितने हिन्दू रीति-नीति, आचार, धर्म, शास्त्र और पुराण के परिज्ञाता थे और फिर देखें कि आज के कितने मुसलमान विद्वान आधुनिक हिन्दू परिवृति का उतना गहरा ज्ञान रखते हैं तो हम आश्चर्यचकित रह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जायेंगे। कोई कह सकता है कि कम संस्कृत जाति का अधिक संस्कृत जाति के विचारों का अध्ययन करना स्वाभाविक ही है, क्योंकि इसके द्वारा वह उसकी विशालतर सांस्कृतिक निधि तक पहुँच सकती है, किन्तु एक तो बाहर से आनेवाली सब जातियों का सांस्कृतिक धरातल एक नहीं था, और यह कहना ठीक नहीं होगा कि जो नीचे थे उन्होंने अधिक ग्रहण किया और जो अधिक संस्कृत थे उन्होंने कम। दूसरे वैसे भी यह युक्ति कितनी अपूर्ण है, इसका प्रमाण भारत में अंग्रेजों की पैठ के समय का अध्ययन करने से मिल सकता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उस समय भारत यूरोप की अपेक्षा कम संस्कृत था। किन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि अंग्रेज अथवा फ्रांसीसी भी न केवल असभ्य नहीं थे, बल्कि सभ्यता और संस्कृति के कई उत्कर्ष देख चुके थे और उस समय भी सांस्कृतिक दृष्टि से हीन युग में से नहीं गुजर रहे थे। इतना होने पर भी उन्होंने भारतीय जीवन और विचार-परिपाटियों के प्रति जो उत्सुकता और ग्रहणशीलता दिखायी, वह उस उदारता और विवेकपूर्ण अध्ययनशीलता से किसी तरह कम नहीं थी, जो उन्होंने बदले में भारतीयों से पायी। निःसन्देह विदेशियों में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं थी जिनके लिए सब कुछ—यहाँ तक कि अध्ययन और ज्ञानोपार्जन भी साम्राज्य अथवा अन्य प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि का साधनमात्र था। और भारतीयों में भी बहुतों के लिए विदेशी रहन-सहन और संस्कृति का परिचय एक स्थूल महत्त्वाकांक्षा अथवा एक प्रकार की स्नाम्बरी का परिणाम था जो किसी भी संस्कृति के अत्यधिक विकास के बाद उतार के युग में अधिजात वर्ग में प्रकट होती है। पर हम ऐसे लोगों की बात नहीं करते। मैक्समूलर को साम्राज्यवृद्धि का निमित्त मानना उतना ही मूर्खतापूर्ण होगा जितना बंगाल के ठाकुर (टैगोर) वंश के बारे में यह कहना कि उनका अध्ययन विदेशियों की दृष्टि में ऊँचा उठने की इच्छा का परिणाम था।

तब इस नवचेतन का कारण क्या रहा? वास्तविक कारण यही रहा है कि पहले सम्पर्क अथवा संघर्ष के युग में दोनों पक्षों के परस्पर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्ध को नियमित करनेवाली कोई रूढ़ियाँ नहीं रहीं, और इसलिए जहाँ-जहाँ यह सम्पर्क हुआ, घनिष्ठता के साथ हुआ। हमें तनिक भी सन्देह नहीं कि बीरबल, टोडरमल और खानखाना का पारस्परिक सम्बन्ध आज के पढ़े-लिखे हिन्दू और मुसलमान के सम्बन्ध से कहीं अधिक घनिष्ठ होता होगा, इस लेए नहीं कि वे एक ही बादशाह के दरबारी थे, वरन् इसलिए कि उनके व्यवहार को सीमित करनेवाली जातीय, सामाजिक अथवा कथित धार्मिक रूढ़ियाँ अभी कड़ी नहीं हो पायी थीं और शायद बनी भी नहीं थीं। उनका व्यवहार कौतूहल पर आश्रित था, (भले ही उसकी आड़ में विरोध भी रहा हो) आज का व्यवहार मूलतः अनेक प्रकार के निषेधों पर आश्रित है (जब कि विरोध-भावना किसी तरह भी कम नहीं हुई है)।

सन् १८६४ में मूर की 'हिन्दू देवमाला' के संशोधित संस्करण की भूमिका में उसके सम्पादक रेवेरेंड सिम्पसन ने लिखा था, "भारत में यूरोपियनों का जीवन अब अधिकारगत, औचित्यानौचित्य–विचार की रूढ़ियों में बँध गया है। अंग्रेजी पारिवारिक जीवन की रीतियाँ भारत में ले आयी गयी हैं और उसके साथ-साथ एक पृथक्त्व और दूरत्व की भावना भी आ गयी है। हम अब शासक हो गये हैं और सहचर नहीं रहे। कम्पनी के समय के लेन-देन, षड्यन्त्र और मार-काट के दिनों में यूरोपियन देशी स्वभाव को जितना निकट से देखते और जानते थे, उतना निकट से अब नहीं समझते। ब्राह्मण सेनापतियों के अधीन बड़ी-बड़ी सेनाओं के साथ घुल-मिल जानेवाला यूरोपियन लेफ्टिनेण्ट अथवा देशी राजाओं के दरबारों की देहरी पर बाट जोहनेवाला नौसिखिया कूटनीतिज्ञ देशी स्वभाव, रीति-रस्म और आचार-विचार का अन्तरंग देख सकता था, क्योंकि वह उसकी दृष्टि के आगे निःसंकोच खुला रहता था। आवश्यक परिवर्तन के साथ यह कथन आज भारत के देशी और विदेशी सभी समाजों के पारस्परिक जीवन पर लागू होता है, क्योंकि आज सभी समाजों की पीठ पर रूढ़ि का भारी बोझ है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐसी परिस्थिति में यह विशेष आवश्यक हो जाता है कि देश के विभिन्न अंगों को अलग-अलग लीकों में पड़कर विच्छिन्न हो जाने से बचाने के लिए प्रयत्न किया जाय। सदियों से साथ रहनेवाले समाज क्रमश: एक दूसरे से इतना परे हट जायँ कि जब एक-दूसरे की ओर देखें तब उनकी आँखों में सख्य का आलोक न हो, जिज्ञासा अथवा कौतूहल का आकर्षण भी न हो—केवल घनीभूत अपरिचय और उपेक्षा एक पत्थर की दीवार की तरह बीच में खड़ी हो जाय—यह किसी भी देश के लिए स्वयं एक भारती ट्रैजेडी है। और जब हम अन्य देशों के उदाहरण से देखते हैं कि यह मौलिक ट्रैजेडी असंख्य महासंकटों की जननी है, तब ऐसे उद्योगों की तात्कालिक आवश्यकता समझ में आ जाती है। बहुत सम्भव है कि ऐसे उद्योग भी सन्देह और आशंका की दृष्टि से देखे जायँ, किन्तु यह खतरा अपेक्षा में बहुत छोटा है।

: २ :

किसी देश के सांस्कृतिक जीवन में देव-गाथाओं अथवा पुराण-गाथाओं का क्या स्थान होता है या होना चाहिए, इस बारे में बहुत मतभेद हो सकता है और है। पिछली सदी से धार्मिक सुधारवाद की जो लहर चली उसके कारण बहुत से लोग पुराणों को एक गर्हित वस्तु समझने लगे, और अब भी हिन्दुओं में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो अपने बच्चों को पुराणों की छाया से उसी तरह बचाकर रखना चाहते हैं जैसे किसी छूत के रोगी से। यहाँ तक कि रामायण और महाभारत भी वर्जित और अश्लील साहित्य की श्रेणी में रख दिये जाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे घरों में भी ग्रीक अथवा रोमन पुराण-गाथाएँ वर्जित नहीं समझी जातीं, वेदव्यास के अश्लील समझा जाने पर भी होमर पढ़ लिया जाता है—यद्यपि, जैसा कि मैक्समूलर ने कहा है, "होमर का काव्य जिन अतिविकसित अथवा जर्जरित पुराण-गाथाओं पर आश्रित है उन्हीं का शुद्ध मूलरूप वैदिक गाथाओं में मिलता है। वैदिक गाथाओं में आर्यों के उस सांस्कृतिक प्राग्जीवन का चित्र मिलता है जिसका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विकृत रूप हमारे पुराणों में अथवा आर्यों की अन्य शाखाओं के पुराणों में पाया जाता है।"

इस धार्मिक सुधारवाद को छोड़ भी दें, तो भी हम देखते हैं कि शिक्षित व्यक्तियों में प्रायः पुराणों के सम्बन्ध में एक अश्रद्धा और जुगुप्सा का भाव आ गया है। मानो वे उस पृष्ठभूमि के लिए लज्जित हैं, जिस पर उनका जीवन पनपा और विकसित हुआ है। यह दृष्टिकोण मेरी समझ में न केवल अवांछनीय है, बल्कि अहितकर भी है। इसलिए नहीं कि पुराणों को धर्म का अंग मानता हूँ, बल्कि इसलिए कि बिना पुराणों के अध्ययन के किसी भी देश के जीवन की सांस्कृतिक भित्ति तक नहीं पहुँचा जा सकता और इसलिए उस जीवन के प्रति अपना दायित्व भी नहीं निभाया जा सकता। ग्रीक दार्शनिकों ने ग्रीक पुराणों का नया मूल्यांकन किया था तो वे प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों की नैतिक, भौतिक अथवा ऐतिहासिक व्याख्या करने लगे थे। उन्होंने देखा था कि पुराणों द्वारा प्राचीनकाल के मनीषियों ने अन्धकारावृत जनता को रूपकों और संकेतों के सहारे शिक्षित करके एक सामाजिक सूत्र में बाँधने का प्रारंभिक प्रयत्न किया था। यह भी उन्होंने समझा था कि पुराणों के चरित्र बहुधा प्राकृतिक क्रियाओं के काव्यमय मानवीकृत प्रतिचित्र थे और पंचतत्त्वों ने भी देवरूप ग्रहण कर लिया था। यह भी वे देख सके थे कि कुछ देवता केवल महान योद्धाओं, राजाओं अथवा ऋषियों के अतिमानवी रूप हैं। इन सभी अवधारणाओं में सत्य का अंश है और साथ ही जहाँ ये पुराण के धार्मिक महत्त्व को अस्वीकार करते हैं, वहाँ यह भी सिद्ध करते हैं कि परम सत्य की उपलब्धि के लिए किये गये इन प्रारम्भिक प्रयासों के लिए लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। ग्रीक युग का अनेकीश्वरवाद लुप्त हो गया है, परन्तु ग्रीक पुराण की देन को यूरोप का प्रत्येक साहित्यिक आज भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता है।

आज के भारतीयों को तो उपर्युक्त दृष्टिकोण का औचित्य और भी आसानी से स्वीकार कर सकना चाहिएं, क्योंकि आज वे पुरातत्त्व, नृतत्त्व,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के नये आविष्कारों से भी लाभ उठा सकते हैं। उन्हें तो आसानी से यह समझ सकना चाहिए कि किसी भी देश के जीवन के गहनतम रहस्य तक पहुँचने के लिए उसका पुराण साहित्य ही सबसे अच्छी कुंजी है, कि उसी में समष्टिगत आदर्शों और जातिगत आकांक्षाओं में वे स्वप्नचित्र मिल सकते हैं, जिनका कि विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि, दीक्षा, योग्यता और संस्कारों के आधार पर परिष्कार करते हैं। पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें से जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा

[१९१८ ई०]

सुविख्यात भाषा-विज्ञानी एवं समर्थ निबन्धकार डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा का जन्म सन् १९१८ ई० में छपरा में हुआ था। इन्होंने संस्कृत की पारम्परिक शिक्षा प्राप्त की। इसके अतिरिक्त पटना-विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त करके ये इंग्लैण्ड गये। वहाँ से आने के बाद इन्होंने पटना को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। काफी समय तक पटना विश्व-विद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष भी रहे। सम्प्रति भी वहीं—पटना-विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर अधिष्ठित हैं।

इन्होंने भाषा-विज्ञान, संस्कृति और समीक्षा से सम्बद्ध अनेक पुस्तकें लिखी हैं। आप उच्चकोटि के निबन्धकार भी हैं। इनके वैयक्तिक निबन्ध का संग्रह—"खट्टा-मीठा" नाम से प्रकाशित हुआ है। शर्माजी के निबन्धों पर इनके गम्भीर अध्ययन एवं गहन चिन्तन की छाप है। इनके निबन्धों की मुख्य विशेषता इनकी प्रवाहपूर्ण सरस शैली, एवं सांस्कृतिक चेतना का समाहार है। विचारात्मक एवं गवेषणात्मक शैली में लिखे गये ये निबन्ध भाषा की सहजता के कारण रोचक हो गये हैं। इन निबन्धों में विचारों की प्रौढ़ता के साथ-साथ अभिव्यक्ति की सादगी भी है। इसी कारण इनकी शैली प्रसाद-गुण-सम्पन्न है। भाव, विचार, भाषा एवं शैली—प्रत्येक दृष्टि से ये निबन्ध सम्पन्न हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भाषा, धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता

भाषा, धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता—ये चार ऐसे तत्त्व हैं जो मनुष्य जाति को परस्पर मिलाते हैं और अलग भी करते हैं। यह बात विरोधाभास जैसी दीखती है कि एक ही वस्तु एकीकरण और पृथक्करण दोनों का साधन हो, फिर भी बात ऐसी ही है। भाषा ही एकमात्र साधन है जो अन्य पशुओं से मनुष्य को पृथक् करती है और उसे मनुष्य बनाती है। साहित्य, ज्ञान, विज्ञान, कला—सभी क्षेत्रों में मनुष्य की समस्त उपलब्धियों का एकमात्र आधार भाषा ही है। स्वभावतः भाषा का मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। जैसा दण्डी ने कहा है, "मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप भाषा के द्वारा ही निष्पन्न होते हैं।"

> **इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।**
> **यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥—काव्यादर्श।**

यह त्रिभुवन घोर अन्धकार में निमग्न हो जाता है यदि सृष्टि के आरम्भ से शब्द (भाषा) की ज्योति न जलती होती।

इसी को विख्यात दार्शनिक वैयाकरण भर्तृहरि ने भी कहा—

> **अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।**
>
> —वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड)।

व्यवहार में प्रवृत्ति के साधन शब्द ही हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो भी लौकिक व्यवहार सम्पन्न होता है वह भाषा के द्वारा। मनुष्य प्रेम भी करता है तो भाषा की ही सहायता से। झगड़ने के लिए भी भाषा की ही जरूरत पड़ती है। इस तरह भाषा मेल का भी कारण है और विरोध का भी। दूर देश में जब अपनी भाषा बोलनेवाला कोई व्यक्ति अनायास मिल जाता है तो कितनी प्रसन्नता होती है और उसके प्रति कितनी आत्मीयता का बोध

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होता है। कोई कितना भी गुणी, कितना भी विद्वान, कितना भी आकर्षक क्यों न हो, जब तक हम उसकी बात नहीं समझते तब तक उसके प्रति आकृष्ट नहीं होते। भाषा ने जन-समुदाय के एकीकरण में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आज जब विज्ञान के कारण दूरी की भावना दूर हो चुकी है, संसार गोष्पद जैसा बन गया है और संचार के साधन इतने समुन्नत हो गये हैं कि हम संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक किसी से केवल बातें ही नहीं कर सकते, बल्कि उसकी आकृति भी देख सकते हैं, तब भाषा का महत्त्व कितना बढ़ गया होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है। जहाँ एक ओर भाषा की अनन्त महत्त्वपूर्ण संभावनाएँ हैं वहाँ दूसरी ओर उसके साथ अनेक प्रकार के पूर्वग्रह भी लगे हुए हैं। उन्हें ठीक से न समझने के कारण अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं जो कभी-कभी अनर्थकारिणी सिद्ध होती हैं।

हममें से बहुतों का यह विश्वास है कि भाषा का धर्म के साथ अभिन्न सम्बन्ध है, अर्थात् कोई धर्म-विशेष किसी विशेष भाषा में ही अभिव्यक्ति पा सकता है। हिन्दुओं की दृष्टि में हिन्दूधर्म की भाषा संस्कृत है, इसलिए मांगलिक अवसरों पर अथवा यज्ञों में संस्कृत का प्रयोग आवश्यक माना जाता है। मुसलमानों का विश्वास है कि अरबी इस्लाम की भाषा है।

इसी तरह प्रत्येक धर्म के अनुयायी किसी-न-किसी भाषा से अपने धर्म का सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और बड़े कट्टरपन से उसका समर्थन करते हैं, किन्तु तर्क की कसौटी पर कसने पर यह धारणा सदा ग्राह्य नहीं दीखती। यदि संस्कृत हिन्दूधर्म की भाषा है तो हजार में नौ सौ निन्यानवे हिन्दू, हिन्दू नहीं कहला सकते, क्योंकि संस्कृत से उनका परिचय नहीं है। कितने हिन्दू ऐसे हैं जिन्होंने, समझने की बात तो दूर, वेदों के दर्शन भी किये हैं? करोड़ों की संख्या में ऐसे मुसलमान हैं जो अरबी बिलकुल नहीं जानते, पर किसी अरबी जाननेवाले मुसलमान से वे अपने को किसी अंश में हीन नहीं मानते। ईसाई होने के लिए हिब्रू

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का जानना अनिवार्य नहीं है। हिब्रू की बात तो छोड़ दीजिये, बाइबिल का अंग्रेजी अनुवाद भी बहुत ईसाई नहीं समझ पाते। भारत के आदिवासी क्षेत्रों में ऐसे बहुत से ईसाई हैं जिन्होंने ईसाईधर्म अपना लिया है, किन्तु शिक्षा के अभाव के कारण बाइबिल समझने में असमर्थ हैं, पर इससे उनकी ईसाइयत में कोई बट्टा नहीं लगता। चीन में करोड़ों की संख्या में बौद्ध हैं जो त्रिपिटक की भाषा से बिल्कुल कोरे हैं, पर अपने को उसी निष्ठा से बौद्धधर्म का अनुयायी मानते हैं जिस निष्ठा से कोई त्रिपिटकाचार्य। इस बात को स्पष्ट कर लेना इस दृष्टि से वांछनीय है कि भारत में भाषा-सम्बन्धी समस्या अनेक दूसरे प्रश्नों के साथ उलझी हुई है और वस्तु-स्थिति का सम्यक् ज्ञान न होने से हम ऐसे प्रश्नों को एक साथ मिला देते हैं जिन्हें मिलाने की कोई जरूरत नहीं है। इस देश में मुसलमानों की, और बहुत सारे हिन्दुओं की भी, यही धारणा है कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है, पर उर्दू का सम्बन्ध किसी मजहब से जोड़ना गलत है। यदि ऐसी बात होती तो उर्दू की समृद्धि में हिन्दू कैसे हाथ बँटाते और कहना आवश्यक है कि उर्दू के अनेक ख्यातनाम लेखक और कवि हिन्दू हुए हैं। उसी तरह हिन्दी को रहीम, रसखान, जैसे कवियों ने जो कुछ दिया है वह कैसे सम्भव होता? भाव की दृष्टि से भी रसखान की कविता में किसी हिन्दू-भक्त की अपेक्षा कम तन्मयता नहीं है। आज ही धर्म के नाम पर बंगाल का विभाजन करके एक हिस्सा पाकिस्तान बन गया, मगर भाषा वहाँ की न अरबी है, न फारसी, न उर्दू, बल्कि बँगला। भारत के मुसलमान जिस प्रान्त में हैं वहीं की भाषा बोलते हैं, वे अरबी, फारसी या तुर्की नहीं बोलते। चीन के मुसलमान चीनी और रूस के रूसी का ही प्रयोग करते हैं। स्वयं इस्लामी देशों में भी भाषा की एकता नहीं है, इसलिए भाषा का सम्बन्ध धर्म से जोड़ना गलत है।

दूसरी बात यह है कि धर्म (जिस रूप में आज उसका अर्थ हम लेते हैं) कोई शाश्वत तथ्य नहीं है। इच्छामात्र से कोई क्षणभर में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धर्म-परिवर्तन कर सकता है। इस देश में करोड़ों व्यक्तियों ने हिन्दूधर्म छोड़कर इस्लाम धर्म अपना लिया, मगर इससे उनकी भाषा में क्या परिवर्तन हुआ ? जो जहाँ का था वहीं की भाषा बोलता रहा। बंगाल का मुसलमान बंगला बोलता रहा तो केरल का मलयालम, गुजरात का गुजराती तो उड़ीसा का उड़िया। केवल उसकी आध्यात्मिक या धार्मिक निष्ठा परिवर्तित हुई, भाषा अथवा अन्य भौतिक वस्तुओं में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी तरह दसवीं शताब्दी में सम्पूर्ण स्कैण्डिनेविया ने ईसाई-धर्म स्वीकार कर लिया, पर इससे उसकी भाषा में कोई अन्तर नहीं आया। चीनी अपनी भाषा बोलते हुए बौद्धधर्म में दीक्षित हुए। इस तरह स्पष्ट है कि धर्म-परिवर्तन से भाषा का कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म जितनी आसानी से बदल सकता है, भाषा उतनी आसानी से नहीं बदल सकती। धर्म एक पल में परिवर्तित हो सकता है, किन्तु भाषा का आमूल परिवर्तन एक पीढ़ी में भी सम्भव नहीं। उपर्युक्त अनुकूल एवं प्रतिकूल उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषा का धर्म से नित्य-सन्बन्ध नहीं है। भाषा-सम्बन्धी समस्या को हल करते समय धर्म को उसमें ला खड़ा करना समस्या को हल करने या सुलझाने के बदले और भी उलझा देना है। हमारे देश में भाषा-सन्बन्धी समस्या के न सुलझने का यह एक प्रधान कारण रहा है।

कुछ लोग भाषा को संस्कृति से भी संपृक्त कर देते हैं। संस्कृति की परिभाषा सुगम नहीं है, किन्तु सामान्यतः उसे किसी जन-समुदाय की परम्पराओं, रूढ़ियों, विश्वासों और जीवन-पद्धतियों का योग कह सकते हैं। इस दृष्टि से एक स्थान पर बसनेवालों की संस्कृति एक हुआ करती है। मेरे गाँव में हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी। हिन्दुओं में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी हैं। किन्तु संस्कृति की दृष्टि से उनमें कोई अन्तर नहीं है। सभी के विश्वास एक जैसे हैं, सभी समान रूढ़ियों का पालन करते हैं, सभी की जीवन-पद्धति एक ही है। सांस्कृतिक की अपेक्षा उनमें आर्थिक-वैषम्य अधिक स्पष्ट है। कहने को ब्राह्मण अपने को वैश्य या शूद्र की अपेक्षा उच्चतर मानता है, किन्तु यदि वह निर्धन है और वैश्य धनी,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो उसके सामने वह हीनता का अनुभव करता है, कर्ज की जरूरत पड़ती है तो दीन-मुद्रा में वह हाथ पसारता है और वैश्य उसे ऐसी दृष्टि से देखता है जैसे उसका उपकार कर रहा हो, किन्तु संस्कृति का वैषम्य ढूँढ़े भी नहीं दिखायी देता। रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, उत्सव-त्योहार सब एक है। एक कतार में खड़े करा दिये जायँ तो कहना असम्भव होगा कि कौन हिन्दू है, कौन मुसलमान, कौन ब्राह्मण, कौन क्षत्रिय, कौन वैश्य, कौन शूद्र। विना वताये बगल के गाँव का भी कोई व्यक्ति इसका अन्तर नहीं समझ सकता। भारत से जो लोग विदेश जाते हैं वे सब-के-सब भारतीय समझे जाते हैं। बिना परिचय दिये भी विदेशियों को हमें भारतीय समझ लेने में कोई उलझन नहीं होती। कारण कि सांस्कृतिक दृष्टि से हम एक हैं। हम ब्राह्मण हैं या क्षत्रिय, लुहार या सुनार, बढ़ई या जुलाहा, यह बात बिना कहे कोई नहीं जान सकता। हमारी न तो ब्राह्मण संस्कृति है, न क्षत्रिय संस्कृति, न लुहार संस्कृति, न सुनार संस्कृति, न बढ़ई संस्कृति, न जुलाहा संस्कृति। ये तो विभिन्न पेशों के वर्ग हैं, संस्कृति सबकी एक ही है और वह है भारतीय संस्कृति। रीति-नीति, आचार-व्यवहार, रस्म-रिवाज प्रायः एक ही हैं। संसार में अनेक संस्कृतियाँ हैं, मगर उनका सम्बन्ध भाषा से न होकर तत्तत् स्थानों में विकसित परम्पराओं, रीतियों, विश्वासों और आचारों से है। धर्म के समान ही संस्कृति को भाषा से जोड़ रखने की भावना अवांछनीय है।

सच तो यह है कि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से ही एक राष्ट्र रहा है। राजनीतिक एकता तो पिछली शताब्दी की देन है। भारत की एक राष्ट्रीय इकाई के रूप में कल्पना कोई नयी चीज नहीं है। काश्मीर से कन्याकुमारी तक और पश्चिम सागर से पूर्व सागर तक भारत की सीमाएँ सदा मानी जाती रही हैं, पर राजनीतिक अर्थ में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अर्थ में। शंकराचार्य द्वारा चार दिशाओं में स्थापित चार पीठ वस्तुतः भारत की सीमा-रेखाएँ हैं। प्रातःकाल सन्ध्या-वन्दन करते समय जब हम प्रतिदिन—

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का पाठ करते हैं तो उस समय भारत के राजनीतिक रूप का स्मरण कर सांस्कृतिक रूप का ही स्मरण करते हैं। हमारे साहित्य, दर्शन, धर्म और कला में भारतीयता की भावना ओत-प्रोत रही है और इसी आधार पर देश के विभिन्न भागों में वसनेवाले एकता का अनुभव करते रहे हैं, किन्तु यह एकता विभिन्न भाषाओं में व्यक्त हुई है, उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम अनेक रहे हैं। हिन्दी, वँगला, तमिल, तेलगु, गुजराती, मराठी केवल विभिन्न वाणियाँ हैं। उनके भीतर जो आत्मा है वह एक है, जिसमें समग्र भारत की ध्वनि सुनायी पड़ती है। तो इस भाषा-भेद के रहते हुए भी राष्ट्रीय एकता रही है या इसको उलटकर यह भी कह सकते हैं कि राष्ट्रीय एकता अनेक भाषाओं के माध्यम से प्रकट हुई है। इससे स्पष्ट है कि संस्कृति और भाषा का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। अतः धर्म के समान ही संस्कृति को भी भाषा से सदा जोड़ रखना तर्कसंगत नहीं है।

राष्ट्रीयता के कई आधार हैं जिनमें राजनीतिक अनुशक्ति का सर्वाधिक महत्त्व है। राष्ट्रीयता एक प्रजाति, एक धर्म, एक संस्कृति से भी निर्मित हो सकती है, किन्तु वर्तमान युग में वह एक राजनीतिक सत्ता से निर्मित और नियन्त्रित होती है, अर्थात् एक राजनीतिक सत्ता के अधीन रहनेवाले एक राष्ट्र के निवासी माने जाते हैं।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्र का निर्माण भाषेतर साधनों से हुआ करता है। पाकिस्तान का निर्माण इसका ताजा और प्रत्यक्ष उदाहरण है। पाकिस्तान अरवी-फारसी की भावना से नहीं वना, वल्कि इस्लाम धर्म की भावना से। इजरायल का निर्माण भी धर्म-प्रेरित ही रहा है। उन्नीसवीं शताव्दी से लेकर विगत द्वितीय महायुद्ध तक यूरोप की राष्ट्रीय सीमा-रेखाएँ कितनी वदलती रही हैं, यह किसी भी इतिहासज्ञ से छिपा नहीं है और कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सीमा-रेखाओं के परिवर्तन में भाषा का हाथ नहीं के वरावर रहा है। राजनीति, अर्थनीति, कूटनीति—वच्चों के घरौंदों की तरह इन सीमा-रेखाओं को बनाती-बिगाड़ती रही हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक राष्ट्र में अनेक भाषाएँ हो सकती हैं, जैसे रूस, कनाडा, स्विट्-जरलैण्ड, भारत आदि में हैं। रूस अनेक जनतन्त्रों का संघ है और उन सभी जनतन्त्रों की पृथक्-पृथक् भाषाएँ हैं; पर सम्पूर्ण सोवियत संघ की राष्ट्रभाषा रूसी है। इसी तरह कनाडा में अंग्रेजी के साथ फ्रेंच भी स्वीकृत राजभाषा है। स्विट्जरलैण्ड में राजभाषा के रूप में चार भाषाएँ स्वीकृत हैं—फ्रेंच, जर्मन, इतालवी और रुमांश। भारत में संविधान द्वारा स्वीकृत भाषाओं की संख्या १४ है। भाषा की भिन्नता अमेरिका के संयुक्तराज्य में भी है, किन्तु राजभाषा के रूप में स्वीकृत केवल अंग्रेजी ही है। इसके प्रतिकूल ऐसे भी उदाहरण विद्यमान हैं कि अनेक राष्ट्रों में भाषा एक ही है; जैसे इंग्लैण्ड, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड राष्ट्र की दृष्टि से अनेक है, किन्तु राजभाषा या राष्ट्रभाषा सबकी एक अंग्रेजी ही है। इन उदाहरणों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राष्ट्रीयता और भाषा की एकता अनिवार्य नहीं है। एक राष्ट्र में अनेक भाषाएँ हो सकती हैं और अनेक राष्ट्रों में एक भाषा।

हमने पीछे देखा है कि एकता के साधनों में धर्म का भी स्थान है। इसके प्रमाण-स्वरूप हम प्रायः २०० वर्षों तक यूरोप के ईसाई धर्मानुयायी देशों और इस्लाम धर्मानुयायी देशों के बीच में चलनेवाले धर्म-युद्ध को ले सकते हैं। मुसलमान जेरुसलम को अपने अधिकार में रखना चाहते थे। इस धार्मिक संघर्ष में ईसाई राष्ट्र एक ओर थे और दूसरी ओर थे मुस्लिम राष्ट्र। यह संघर्ष प्रायः २०० वर्षों तक चलता रहा और अनेक युद्ध हुए। तो यह युद्ध धर्म के नाम पर था और ईसाई या मुसल-मान राष्ट्र अपने-अपने धर्म के झण्डे के नीचे इकट्ठे हुए, अर्थात् धर्म ने उनको एक सूत्र में बाँधा। किन्तु स्वयं ईसाई देशों में भी युद्ध होते रहे हैं। फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देश कभी शान्त नहीं बैठे। इनका आपसी संघर्ष राजनीतिक या आर्थिक कारणों से प्रेरित था। यही स्थिति अनेक मुस्लिम देशों की भी रही है जो आपस में लड़ते-भिड़ते रहे हैं। इसलिए धर्म से एकता आती है यह ठीक है, किन्तु धर्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से बढ़कर दूसरे प्रबल साधन हैं जो धार्मिक एकता को राजनीतिक दृष्टि से खण्डित कर देते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान देने से यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषा का धर्म, संस्कृति या राष्ट्रीयता से नित्य-सम्बन्ध नहीं है, तब भाषा है क्या? भाषा केवल सुविधा की वस्तु है, वह हमारे दैनिक कार्य-कलाप के निर्वाह का एक माध्यम है। भाषा की सहायता से हमारी जीवनचर्या सरल, सुगम हो जाती है, अन्यथा भावों और विचारों का आदान-प्रदान संकेत तक ही सीमित रहता और संकेतों की अनिश्चितता हमें अन्य पशुओं की पंक्ति में भी ला बिठाती, किन्तु वस्तुतः भाषा का उपयोग क्या इतना ही है? शायद नहीं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विद्यानिवास मिश्र

[१९२६ ई०]

आधुनिक ललित निबन्धकारों में डॉ० विद्यानिवास मिश्र एक समर्थ प्रतिनिधि निबन्धकार के रूप में जाने जाते हैं। इनका जन्म सन् १९२६ ई० में गोरखपुर के चकड़डीहा गाँव में हुआ। इनके परिवार में प्राचीन पंडित-परम्परा चली आ रही थी। इसलिए इनकी शिक्षा का आरंभ घर पर ही संस्कृत-अष्टाध्यायी से हुआ। प्रयाग विश्वविद्यालय से ससम्मान एम० ए० पास करके आपने गोरखपुर विश्वविद्यालय से 'पाणिनि का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन' विषय पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। कुछ दिनों तक काशी में रहकर संस्कृत भाषा और साहित्य का विशेष अध्ययन किया। कुछ समय तक साहित्य-सम्मेलन प्रयाग से भी सम्बद्ध रहे, तदुपरान्त विंध्यप्रदेश सरकार के सूचना एवं प्रसारण विभाग के उपनिदेशक भी रहे। उत्तर प्रदेश में भी आपने एकाधिक वर्ष सहायक सूचना संचालक के पद पर कार्य किया। गोरखपुर विश्वविद्यालय में कुछ दिन संस्कृत का अध्यापन करने के उपरान्त कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय का निमन्त्रण पाकर, दो वर्ष के लिए वहाँ भी भारतीय संस्कृति और साहित्य का अध्यापन किया। अन्तर्राष्ट्रीय भाषा-विज्ञान सम्मेलन के प्रतिनिधि रूप में उन्होंने अमरीका की दुबारा यात्रा की। सम्प्रति वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में आधुनिक भाषा और भाषा-विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष हैं।

मिश्रजी का नाम ललित-निबन्धों के साथ कुछ ऐसा जुड़ गया है कि दोनों संज्ञाएँ एक दूसरे का पर्याय बन गयी हैं। इनके ललित-निबन्ध 'छितवन की छाँह', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आँगन का पंछी' और 'बनजारा मन', 'कदम की फूली डाल', 'मैंने सिल पहुँचाई', और 'वसन्त आ गया है, पर कोई उत्कण्ठा नहीं', आदि पुस्तकों में संगृहीत हैं। भाषा-विज्ञान के आप आधिकारिक विद्वान् हैं और इस विषय पर भी आपकी पुस्तकें देश-विदेश में प्रकाशित और चर्चित हुई हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मिश्रजी प्रतिभावान् और बहुश्रुत हैं। गहन और गम्भीर विषयों पर विचारात्मक दृष्टि से लिखे निबन्धों में भी उनका सहज व्यक्तित्व इस तरह प्रस्फुटित हुआ है—कि उन्हें भी व्यक्तित्वहीन नहीं कहा जा सकता। इनके निबन्धों में विचारों की गहनता, अनुभव की व्यापकता और लोक-जीवन की सरसता का सतरंगी मेल है। भाषा में ताजगी और प्रवाह है। शब्दों के आप शिल्पी हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ अंग्रेजी-उर्दू और भोजपुरी के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। भाषा में कसाव है। शैली आत्म-व्यञ्जक व्यक्ति-निष्ठ निबन्धों की है। हिन्दी में इस प्रकार के उच्चस्तरीय निबन्ध लिखनेवाले बहुत नहीं हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मैं मधुवन जाऊँगा रे !

वरसों पहले की वात है, पन्द्रह-सोलह साल का एक चरवाहा छोकरा एक जंगली सड़क पर ढोर लिये जा रहा है, जीप रुक जाती है और पीछे आ रहे उस छोकरे की तान सुनायी पड़ती है—

जाइब रे मधुबनवा।
गोइँठवा बीने जाइब रे मधुबनवा॥

(मैं मधुबन जाऊँगा रे, सूखी कंडियाँ बीनने मधुबन जाऊँगा)।

गीत के वोल जिस बोली के थे, वह तो इस प्रदेश में बोली नहीं जाती। छोकरे ने सड़क पर ढोर के पार कर जाने की प्रतीक्षा में जीप रुकी देखी, सहम गया और आकाश को उद्वेलित करनेवाली तान टूट गयी। हड़बड़ाकर ढोर हाँकने लगा, मैंने उससे गीत की बोली में पूछा— क्योंकि वह बोली मेरी भी है—तुम्हारा घर तो यहाँ है नहीं, यहाँ कैसे विहर रहे हो ? अपनी बोली में पूछे गये प्रश्न से लडके का डर भाग गया, पर घर के प्रश्न से उसके स्वर में बड़ी विह्वलता आ गयी। उसने बताया—माँ-बाप एक ही साल के अन्तर से जाते रहे, मामा अपने पास की कोयला खदान में काम करने के लिए लाया। उस खदान के काम में मेरा मन नहीं लगा। उसके पास से भागकर मैंने चरवाही की है, कुल चार महीने हुए हैं। मुझे यहाँ चरवाही करते घर की बहुत याद आती है और वह फफक-फफककर रोने लगा। उसके सुरीले गले से निकली तान बीच में ही अधूरी रह गयी। मन हुआ, फिर से उसे सुना जाये, पर उसकी आर्द्र स्मृतियों को रोकने की शहरी तटस्थता नहीं जुट सकी और गीत अधूरा रह गया। 'जाइव रे मधुबनवा' गानेवाला अपने अधूरे उल्लास और भरे विषाद के साथ मधुवन चला जा चुका था।

* * *

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गीत की स्वरलहरी का जादू उतरते ही उसके बोल के अर्थ पर ध्यान गया—कितनी बेतुकी बात है, मधुवन जायेगा और किसलिए, कंडियाँ बीनने के लिए। महुआ बीनने जाना होता, तो भी कोई बात थी। मोरपंख या ऐसे ही दूसरे रंगीन पर खोज-खोजकर इकट्ठे करने की बात भी समझ में आती है। जरा अहिंसक अभिरुचि के प्रतिकूल तो पड़ता है, पर किशोर मन के अनुकूल तितलियाँ पकड़ने के लिए भी मधुवन की घुमास का कुछ अर्थ रखती थी। पर कंडियाँ बीनने के लिए मधुवन जाना कुछ बहुत विसंगतिवादी लगा, पर छोकरा तब तक जा चुका था, पूछे भी तो किससे ? गीत भी बीच में अधकपट दिया गया, आगे कुछ बात उठती, तो अर्थ खुलता। पर स्वर की मिठास, किशोर के चित्त की उच्छ्वसित मधुवन-यात्रा की हुलास, अपरिचय के आकाश से अपने को जोड़ने की ऐसी मुखर आकांक्षा और परिचय की आत्मीयता के हल्के-से भाषिक इशारे से भीतर की बिछुड़न का ऐसा उमड़ाव, इन सबकी छाप रह गयी। आज भी कभी-कभी मन के विजन में गूँज जाता है—

गोइँठवा बीने जाइब रे मधुबनवा।

आधुनिक संस्कार कहता है कि कंडी ही तो हम सब मधुवन में बीन रहे हैं, मधुवन की सार्थकता इन गायों-भैंसों के गोबर की सूखी ढेरियों को इकट्ठा करके ईंधन की समस्या हल करने तक होती है, जो हेय था, उसी का उपादान करके जीवन में ऊष्मा प्राप्त करने का उपक्रम ही तो आधुनिकता की परम साधना है। छोकरे ने ठीक ही तो कहा—"कंडियाँ बीनने के लिए मैं मधुवन जाऊँगा", दूसरी कोई चीज चुनने, बीनने और जुटाने में धरा ही क्या है ? जीवन के कठोर यथार्थ के आगे मधुवन के और आकर्षणों की क्या बिसात ? हम सभी मधुवन में यही तो कर रहे हैं, सूखी कंडियाँ बीन रहे हैं, मधुवन का अहसास हमें न गन्ध से होता है, न रंग से और न होता है तरह-तरह के स्वर-संसार से। इस मधुवन में ढोर चराने चरवाहे आते हैं, इन ढोरों की परितृप्ति का प्रमाण देने के लिए जगह-जगह गोबर की ढेरी दिख जाती है। वही वसन्त की धूप में कुछ जल्दी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही सूखकर कंडी बन जाती हैं, उस कंडी में आदमी के भीतर के पशु के आहार-विहार की पूरी परितृप्ति मिल जाती है और आदमी उसे जलाकर वह आदिम ऊष्मा फिर से पा लेता है, जो कि वह घर की चहारदीवारी की बेहद ठंढी जिन्दगी में खो चुका होता है। हमारे जीवन में ताप है ही कहाँ? जो है वह नियन्त्रित है। किसी भी रिश्ते में कोई गर्मी नहीं है, यहाँ तक कि निकटतम और उष्णतम कहे जानेवाले सेक्स के रिश्ते में भी नहीं।

* * *

लोग जन्मदिन मनाते हैं, मोमबत्तियाँ जलाकर बीते सालों की गिनती का इश्तहार बाँटते हैं। बन्द खिड़ेकियोंवाले बिजली या गैस से गरमाये कमरे को शराब और सिगरेट से और गरमाने की कोशिश करते हैं। इस पर भी जब भीतर की तह-पर-तह जमी बर्फ नहीं पिघलती, तो बातों की गर्मी से उसे पिघलाने की कोशिश करते हैं। पर ये पार्टियाँ, इन पार्टियों की हँसी-मजाक, दूसरों की गलतियों या ठीक-ठीक कहें, दूसरों के उठाये जोखिमों के बारे में गन्दी-गन्दी बातों के चटखारे—कुछ भी तो कारगर नहीं होता। जन्मदिन की बधाई और शोक-संवेदना में कोई फर्क नहीं रह जाता, विदा देने का उपक्रम ऊबास बन जाता है और पार्टी में आये हुए लोग तक एक-दूसरे के लिए प्रेत बन जाते हैं। पूरे जलसे की गहमागहमी के ऊपर मौत की सिहरन हावी हो जाती है।

तब वास्तविक या अवास्तविक किसी मधुवन की सुधि आती है। वह मधुवन बाहर कहीं दिखता नहीं, क्योंकि भीतर वह सीठ गया है। बाहर उस मधुवन की जमीन पर पड़े हुए मधुवन में आनेवाली गायों, भैंसों, बछड़ों-पड़वों, बछियों-पड़ियों के ये विसर्ग चिह्नभर देखते हैं और उसी की धुआँभरी, कसैली गन्धभरी अधसुलगी आग से भीतर-बाहर गर्मी लाने का संकल्पभर सुनायी पड़ता है। जब जीवन का भोक्ता रीत जाता है, तो भोगा हुआ यथार्थ बड़ा सार्थक लगने लगता है। जब अनुभविता चुक जाती है तो 'महसूसा हुआ' (उर्दूदानी का करिश्मा दिखलाना था—नहीं तो 'अनुभूता हुआ' कहते या अंग्रेजीदानी छाँटनी होती तो 'फेल्ट' की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जगह नया प्रयोग करते 'फील्ड')। क्षण बहुत बड़ा वन जाता है। जब बिना सिलसिले की घरबारी बातें फीकी पड़ जाती हैं और उनके बहु-व्यवहृत शब्द अर्थशून्य हो जाते हैं, तो उस खाली जगह को तीखे सिरके की गन्धवाले शब्दों की छलनी करनेवाली भाषा भरने लगती है और सतही उत्तेजनाओं के चाबुक सड़ाक्-सड़ाक् चलाने लगती है, जिनके आघात से कोई एक क्षण भभकता तो है, पर उससे हजार-हजार गुना क्षण और सर्द पड़ जाते हैं, भीतर का खोखलापन और गहरा हो जाता है।

मधुवन की सुधि आये भी तो क्या, मधुवन से आमोदित होनेवाली बतास गुम हो जाती है। जब हम अनुभव करते हैं कि हम जिस जमीन पर खड़े हैं, वह इसमें पड़नेवाली रासायनिक खाद से और बिजली से पत्थर को फोड़कर खींचे गये पानी से परायी हो गयी है, तब हमें वसन्त के आने का कोई अहसास नहीं होता। दूसरे लोग जब वसन्त की बात करते हैं, तो ऐसा लगता है अपना वसन्त चोरी चला गया है और तब अपनी जमीन पर खटना पुरुष की देह बेचकर वेश्यावृत्ति से रुपया कमाने जैसा लगता है।

पर मधुवन तब भी कुछ मुड़ी-तुड़ी पत्तियों की खड़खड़ से, वीरान शाखों की सूली पर टँगे हुए लहू जमे शीशों जैसे फूलों की लपट से, कभी उन्मत्त धूलि-सनी हवा के झोंके से और कभी केवल एक बेतुकी-बेसुरी उदासी के औचक बहाव से अपनी उपस्थिति का बोध कराता है और मन झुंड से भटके हुए हार (ढोर) की तरह उसमें हिरा जाने को (खो जाने को) होता है। एक बीते हुए दिन का अँसुआया निमन्त्रण जाने कितने लम्बे जमाने की पहाड़ी श्रृंखला को नगण्य कर मधुवन में बुलाता है। एक क्षीण पड़ी आशा दर्द को सोने नहीं देती और आशंकित-आतंकित मन जाने से घबराता है। अपने दर्द से ऐसे कतराता है, जैसे कि यह दर्द उसका न होकर किसी दूसरे का हो। गोइँठा (कंडी) बीनने के लिए ही सही, मधुवन जाने की बात कितनी बचकानी और कितनी बेमानी लगती है? रात घिर आने की वास्तविकता सिर पर खड़ी हो और तब कोई पुकारे—"अरी चकई, अपने चकवे को एक बार फिर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुहार ले, यह रात आ गयी है।" तो यह कितना क्रूर लगता है? रात की गहरी स्याही के नीचे यह अन्तिम क्षण के लिए आपूर्ति की लालसा कितनी विरूप लगती है। बिछुड़े हुए से ऐसे मिलने की बात, जो दूसरे ही क्षण दुस्सह बिछुड़न बनने जा रही हो, कितनी जानलेवा लगती है। मिलन के एक छोटे-से क्षण को अपनी पूरी आमोद-वासना उलीच दो, खुद खाली हो जाओ, रेत हो जाओ, क्योंकि रात आ रही है, यह कितना बड़ा आत्मघात है? पर क्या सचमुच मधुवन जाने का दुर्निवार संकल्प आत्मघात का ही संकल्प नहीं है?

जाने-पहचाने जोखिम को इस तरह मोल लेना समझदारी की बात तो है नहीं। आदमी अपने घरौंदे में कितना सुरक्षित है। हवा से, पानी से, रोशनी से, अँधेरे से, धूप से, चाँदनी से, पत्तियों के रंग से, फूलों की गन्ध से, वादल की गरज से, झरने के निनाद से, गौरैया की चहचह से, कुररी के आर्त्तनाद से, इन सबसे, इनकी मार से। घरौंदे में आदमी सुरक्षित है। घरौंदा उसका दुर्ग है। उसकी अस्मिता के देवता का गर्भ-गृह है। उसकी सहेजी हुई ख्वाहिशों का भुँइधरा (तहखाना) है। उसकी सोयी हुई हिंस्र पशुता की माँद है, उसके अकेलेपन के विषधर सर्प का बिल है। उसके वाहर तो बस खतरा ही खतरा है। और मधुवन तो बस महाभय है, वहाँ तो जाकर आदमी साबित बच ही नहीं सकता। आदमी तो ऐसा है कि क्रान्ति का भी घरौंदा वना लेता है, परिवर्तन की राजनीति लाने की जो बात करते हैं, वे भी अपने ढंगवाले परिवर्तन के चारों ओर ऊँची चहारदीवारी खड़ी कर लेते हैं, यह परिवर्तन कहीं खूँटी तुड़ाकर भागने न पाये। मैं तो रोज देख रहा हूँ, यन्त्र-चालित ढंग के छात्र-अशान्ति के नजारे और मुझे इस अशान्ति का ठहराव इतना दयनीय लगता है कि चिल्लाने को मन होता है—अशान्ति के पहरुओ, अशान्ति बँधा-बँधाया नारा नहीं है, वह सक्रिय व्यापार है, वह व्यष्टि और समिष्ट चित्र का उन्मथित आलोड़न है। यह क्या काठ की तलवार भाँज रहे हो? यह किसके इशारे पर अवास्तविक लक्ष्यों पर अनदेखे ढेले सनसना रहे हो? किसको सुना रहे हो अपना गगनभेदी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आक्रोश (उसको जो उस बहरो और दानवीय मशीन का पुर्जा है—अपंग और बेजबान यह अगर बोलता है, तो अपने ऊपर चढ़े हुए रिकार्ड को बजाता है, अपने मुँह पर मढ़े हुए मरी खाल के झूठ को मुखरित करता है) ? पर चिल्ला नहीं पाता, क्योंकि मुझे खुद लगता है, मेरा चिल्लाना भी एक घरौंदा है, जिसमें मैं अपने को सुरक्षित अनुभव कर सकता हूँ। और यह खयाल आते ही चिहुँक उठता हूँ, 'जाइब रे मधुबनवा' (मधुवन जाऊँगा रे)।

मेरा अध्यापक यह टेर सुनकर कातर हो उठता है, गोइँठा (कण्डी) बीनने की बात कहो, समझ में आती है, घरौंदा बेहद ठण्ढा हो गया है, पर उसके लिए भी मधुवन जाना अनिवार्य हो, यह आफत कहाँ से आ गयी ? पर आदिम वासनाओं के ढोर चरानेवाला एक छोकरा मन, जो घरौंदे से कभी का निकला है, आदिम वासनाओं को उनके सँकरे बाड़े से कभी का बाहर कर चुका है, उन्हें उन्मुक्त खोलकर मधुवन की राह पर हाँक चुका है। धुओं की घुटन और बाड़े की खराइन (दुस्सह) दुर्गन्ध से उन्हें उन्मुक्त कर चुका है, कोई बाँसुरी बजाकर नहीं, सिर्फ अपनी अलमस्ती के मुक्त अट्टहास से वह छोकरा, इसी घरौंदे के अन्न-जल से पला, इस अध्यापक मन को चाकरी से अपना पेट पालनेवाला परजीवी छोकरा आज यह दुस्साहस कर रहा है कि हम जिस पर इतना चिढ़ें, खीझें और जिसके बनानेवाले को इतना कोसें, उसी मधुऋतु का बार-बार यह नाम लेता है। कितना शातिर और कितना एहसान-फरामोश है यह छोकरा ? खुद तो नादिहंग है न, इसलिए इसे बसा हुआ घर उजड़े, इसकी पीड़ा नहीं होती, यह कुलबोरन नारद तुला हुआ है प्रजापतियों की लायक सन्ततियों को फिरण्ट बनाने पर।

मेरा अभिशाप किशोर चित्त ही यह नारदीय लीला रच रहा है, उसे रोना-गाना—हँसना तीनों आता है। वह जितना उत्सुक है उतना ही अनुत्सुक भी, जितना कौतुकी है, उतना ही उदासीन भी। जितना हँसता और रुलाता है, उतना ही निर्मम भी बनने की कला जानता है। मैं जानता हूँ इस किशोर लीलावाले अपने भीतर के नटवर को, जो कभी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निवन्धकार बनकर, कभी नकली कवि बनकर, कभो योंही विचारों का बनजारा बनकर, कभी मानवीय जीवन की नाट्य भूमिका में कुलपालक और प्रीतिपालक राम बनकर, कभी प्रेमी और अनुतापी दुष्यंत बनकर, कभी सत्यवादी और 'नरो वा कुंजरो' वादी युधिष्ठिर का क्षुब्ध और शांत रूप धरकर, कभी कृष्ण की भूमिका धारणकर युद्ध की ललकार और नियत मृत्यु के सहज स्वीकार की विरोधी मुद्राओं को ठीक-ठीक उतारकर, कभी भाट्टिनी की चन्द्रिका तो कभी निउनिया की दीपशिखा की अन्तिम भभक बनकर, भाँति-भाँति के बानकों के माध्यम से कुछ ऐसा खिलवाड़ करता रहता है, जिसे न मेरा शरीर झेल पाता है, न मेरा स्थूल परिवेश। क्योंकि एक बार हो, तो झेल भी जाये, एक ही भूमिका हो, तो भी आदत डाल ले, पर भूमिकाओं का यह बार-बार बदलाव और एक ही भूमिका में कई बानकों की विसंगति, इतना तो अपने वश की बात नहीं। ऐसी आवारा तबीयत का छोकरा मधुवन सदा के लिए चला हो जाये, तो अच्छा हो। जान तो छूटे, पर यह तो कण्डी बीनकर फिर दरवाजे पर दस्तक देगा और कहेगा, घर में जो कूड़ा-कचरा है, जो कुछ सूखकर काठ हो गया है, जो भी भीतर-बाहर की मैल है, जो भी उपेक्षाओं के पाले से झुलसे हुए झाड़-झंखाड़ हैं, घुन लगी शहतीरें हैं, टूटे हुए पाये हैं, उन्हें घर के बाहर करो, संवत् की चिता में इन्हें समिधा बनाना है। मैं सिर्फ कंडियाँ ही मधुवन से नहीं लाया, मैं इन कंडियों में मधुवन की आग भी सुलगाकर लेता आया हूँ। उसी आग से यह सब फूँकूँगा और इस जीर्ण संवत्सर की राख हर गली-कूचे में बिखरा दूँगा। कल उसी पर वसंत के रंगारंग जलूस निकलेंगे। गरम राख पर पैर पड़ेंगे, तो उनकी गति अपनी जड़ता छोड़ेगी और उनका मन अपना मोह तोड़ेगा। घर से बाहर निकलो, नहीं तो घर ही हम फूँक देंगे।

ऐसे लुआठी लिये लुंगड़ के आगे तब झुकना ही पड़ेगा और मधुवन गया चाहे नहीं, मधुवन की आग की लपटों में अपने को तपाना ही पड़ेगा। अपनी संचित काष्ठ-सम्पदा की राख अपने ही शरीर पर मलनी ही पड़ेगी। और भी कुछ बदा हो, वह भी झेलना ही पड़ेगा। घरौंदे की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुरक्षा आखिर एक दिन दगा देकर रहेगी और सालों पहले पथ पर मिले एक अनाथ छोकरे की सत्यानाशी टेर को उसे एक दिन बढ़ावा देने का कुफल मिलाकर रहेगा। मधुवन का मुख तो नसीब में लिखा नहीं, पर मधुवन जाने की पहली योग्यता की परीक्षा तो पास करनी ही होगी और इसे पास करने के लिए और कुछ करें-न-करें, अपनी निजता, अपना स्वत्व, अपनी अस्मिता यह सब एक-एक जेब से निकाल-निकालकर परीक्षा-हाल के बाहर ही नंगाझोरी देनी होगी। वहाँ नकल की सख्त मुमानियत है। मधुवन में प्रवेश के पहले आदमी निःस्व हो जाना चाहिए, क्योंकि मधुवन वन है, मधुमय चाहे जितना हो, वह घर नहीं है, उसमें प्रवेश के लिए वही अधिकारी होता है, जो भिखनंगे की दशा को प्राप्त हो गया हो, जो 'माँगि के खैबो मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ' के परम फक्कड़ भाव में आरूढ़ हो गया हो। वसन्त एक जबरदस्त नियतिन है, रग-रग इस नियतिन की व्यथा में उत्तप्त हो जाती है और पोर-पोर उस व्यथा से कंटकित हो जाती है।

मधुवन जाना एक दारुण यातना है, पर साथ ही यह यौवन की दुर्निवार चेतना है। इस चेतना से कुछ भी माया-ममता रखो, तो आदमी काम से गया, वह घर से गया और वन से गया, इहलोक से गया, परलोक से गया, मधुवन जानेवाला तो आपकी राह रोककर मधुवन में निकल गया और आपकी निजता आपसे छीनकर आपको छोड़ गया, एक रेतीले द्वीप पर, आप खड़े-खड़े विसूरते रहे—जाइब रे मधुवनवा !

●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कुबेरनाथ राय

[१९३५ ई०]

ललित निवन्धकारों की परम्परा में हजारीप्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र के वाद कुवेरनाथ राय का ही नाम लिया जाता है। इनका जन्म गाजीपुर के 'अवसा' नामक ग्राम में सन् १९३५ ई० में हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० करने के उपरान्त कलकत्ता विश्वविद्यालय में भी अध्ययन किया। इनके साहित्यिक जीवन का सूत्रपात 'साहित्य में भोगवाद' (माधुरी में प्रकाशित) नामक निवन्ध से माना जाता है। उस समय ये ७वीं कक्षा के विद्यार्थी थे। तव से अव तक 'सरस्वती', 'ज्ञानोदय', 'धर्म-युग', 'माध्यम', 'दृष्टिकोण', 'नवनीत', 'कादम्बिनी', आदि पत्रिकाओं में शताधिक निवन्ध और रिपोर्ताज प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशित निवन्ध-संग्रह, 'प्रिया-नील कण्ठी', 'रस आखेटक', 'गन्धमादन', एवं 'विपाद वाँसुरी' हैं।

कुवेरनाथ ने अधिकतर ललित-निवन्ध ही लिखे हैं। इन्होंने समूचे युग की व्यापक चेतना को आत्मसात् करके इस एक ही विधा को समृद्ध किया है। 'ग्रीक माइथॉलोजी' का उनकी रचनाओं पर वहुत प्रभाव पड़ा है। इनके निवन्धों में इनके व्यक्तित्व की सहज उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता के साथ-साथ हिन्दी की सुदृढ़ वैचारिक पीठिका का समावेश मिलता है। भापा, संस्कृतनिष्ठ, तत्सम-प्रधान और समर्थ हैं। अंग्रेजी और भोजपुरी के शव्द भी मिलते हैं। सहज, विदग्धशैली में लिखे गये थे निवन्ध। निवन्धों की समूची विधा को एक नया आयाम देने में समर्थ हैं, साथ ही रूप-रचना और प्रभावान्विति की दृष्टि से अन्यतम हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नारायण और प्रतिनारायण

'रामायण' और 'महाभारत' दोनों की नाभि मिथक है। देवासुर-संग्राम दैवी और आसुरी जीवन-दर्शनों का द्वन्द्व हिन्दू रामायण तो साफ-साफ रावण को असुर घोषित करती है, महाभारत में भी यह बताया गया है कि दुर्योधन साक्षात् कलि है और कौरवगण पौलस्त्य असुरों के अवतार हैं। पर दोनों महाकाव्यों में यह मूल स्थिति समान होने पर भी दोनों के अन्दर विकसित द्वन्द्व का रूप एक ही नहीं है। कम-से-कम दो मूलभूत बिन्दुओं पर वे परस्पर समानान्तर हैं, पर समान नहीं। प्रथम तो यह कि महाभारत में क्रोध की ट्रेजेडी है और रामायण में काम की। दूसरी बात यह कि महाभारत में द्वन्द्व 'धर्म' और 'अधर्म' के बीच है, पर रामायण में द्वन्द्व 'धर्म' और 'प्रतिधर्म' के बीच। रावण, धर्म की अस्वीकारात्मक स्थिति का प्रतीक नहीं। इसके प्रतिकूल रावण का सम्पूर्ण बल उपासना-आश्रित और उपासना-सम्भूत है। तथ्य तो यह है कि वह 'धर्म' के प्रतिपक्ष 'प्रतिधर्म' को व्यक्त करता है। राम, धर्म के 'नारायण' पक्ष के प्रतिनिधि हैं, तो रावण धर्म के 'प्रतिनारायण पक्ष' का है। राम यदि 'नारायण' हैं तो रावण 'प्रतिनारायण' है। वह 'प्रतिईश्वर' है। वह 'ऐण्टीक्राइस्ट' है। ऐण्टीक्राइस्ट, पर शैतान नहीं। रावण 'प्रतिसत्य' का वक्ता है, पर असत्य का नहीं।

इसके विपरीत दुर्योधन और शकुनि 'अधर्म', 'असत्य' और छल के बल पर ही आश्रित हैं। किसी कौरव के पास कोई उपासना बल नहीं। कौरवों का चरित्र दीन और क्षुद्र है, जब कि रावण आदि के चरित्र में आदि से अन्त तक अतिमानवीय गरिमा है। दुर्योधन या शकुनि हमें कई स्थलों पर लगते हैं, अरे ये तो हमी जैसे हैं! हमारी तरह ही दीन, क्षुद्र, संकीर्ण। बौने! परन्तु केवल सीता-हरण प्रसंग को छोड़ दें; तो रावण कहीं भी हीन, क्षुद्र और दीन नहीं। यदि राम साक्षात् नारायण हैं तो रावण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साक्षात् प्रतिनारायण। यह दो दैवी या अर्धदैवी विराट् शक्तियों की चिरन्तन टकराहट, शाश्वत द्वन्द्व की गाथा है। यह द्वन्द्व प्रत्येक युग में किसी-न-किसी रूप में व्यक्त होता रहता है।

महाभारत क्रोध की 'ट्रेजेडी' है और इसका द्वन्द 'न्याय-अन्याय', 'धर्म-अधर्म', 'सत्य-असत्य' का द्वन्द है। इस बात का संकेत संहिता के आरम्भ में ही दो वृक्षों के रूपक द्वारा कर दिया गया है। (आदि०, १।११०,१११)

> दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः
> शकुनिस्तस्यशाखाः
> दुःशासनः फलपुष्पे समृद्धे
> मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी।
> युधिष्ठिरोधर्ममयो महाद्रुमः
> स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्यशाखाः
> माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
> मूलं कृष्णे ब्रह्म च ब्राह्मणश्च।

—अर्थात् दुर्योधन क्रोध का महाद्रुम है और मूल हैं अमनीषी राजा धृतराष्ट्र। युधिष्ठिर धर्म का महाद्रुम है और मूल हैं ब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं एवं ऋषिगण। दुर्योधन के चरित्र में तप का अंश कहीं नहीं है। वह काम, क्रोध, लोभ का घोर 'मानवीय' पुतला है—किसी भी मामूली आदमी जैसा। भीष्म और कर्ण को छोड़कर सम्पूर्ण कौरव-वृत्त इसी मामूलीपन से आक्रान्त है।

महाभारत में एक विशेष बात यह है कि वह षड्रिपुओं में 'क्रोध' पर ही विशेष जोर देता है। महाकाव्य का प्रथम आख्यान है—पुलोमा असुर द्वारा पुलोमा नामक सुन्दरी का हरण, जो भृगु की पत्नी और च्यवन की माता है। इस सुन्दरी के पिता ने भृगु को देने के पूर्व, असुर को ही इसे देने का वचन दिया था। हरण से पूर्व दोनों में कोई पूर्व-परिचय नहीं, पहचान भी नहीं। और महाकाव्य इस बात को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्पष्ट करता है कि असुर ने यह अपहरण कामवश नहीं, क्रोधवश किया। महाकाव्य का प्रतिनायक दुर्योधन, सर्वत्र क्रोध और लोभ की मूर्ति के रूप में व्यक्त किया गया है—काम का पशु वह शायद ही कहीं बनता है। द्रौपदी को नग्न करके लाने का आदेश वह काम के संतोष के लिए नहीं, पाण्डवों के प्रति संचित चिरक्रोध के संतोष के लिए देता है। क्रोध के इस महाकाव्य का समाहार रक्तप्लावन में होता है, जिससे अन्त में शान्तरस का कमल प्रस्फुटित होता है। आनन्दवर्धन ने महाभारत को शान्तरस का महाकाव्य कहा भी है। यद्यपि यह कहा जाये तो अधिक ठीक होगा कि यह रौद्र-वीर-रस का महाकाव्य है, जिसकी अन्तिम परिणति शान्तरस में होती है।

रामायण पढ़ते हैं तो लगता है दो विश्वव्यापी सिद्धान्त आपस में लड़ रहे हैं—दो विश्वव्यापी चरम सत्यों में परस्पर द्वन्द्व चल रहा है। पर महाभारत पढ़ते समय अनुभव होता है कि इसकी सम्पूर्ण पटभूमि किसी कोढ़ या किसी गैंग्रीन से ग्रस्त है और इसके लिए सम्पूर्ण दाह, खाण्डवदाह के अतिरिक्त और कोई इलाज नहीं। चरित्र, दिव्यता, विद्याबल जो राक्षस-कुल में है, वह क्षुद्रताग्रस्त, स्वार्थग्रस्त कौरव-कुल में नहीं। रावण एक विरोधी आदर्श या प्रतिआदर्श लेकर चल रहा था। यदि सीताहरण नहीं भी होता तो भी रघुवंश और राक्षसवंश में टकराहट होती ही। राम का अवतार इसीलिए हुआ ही था। सीताहरण तो बहाना-भर था। परन्तु, दूसरी ओर अगर दुर्योधन पाँच ग्राम भी दे देता तो लड़ाई नहीं होती। यहाँ संघर्ष, मात्र सम्पत्ति के लिए था, किसी यज्ञ-विरोधी, देव-विरोधी, तमोगुणी दर्शन के विकास को रोकने के लिए नहीं, जैसा कि रामायण में है। यह तो व्यास की प्रचण्ड प्रतिभा है, जिसने इस क्षुद्र विषय को इस रूप में, इस दृष्टिक्रम (पर्सपेक्टिव) से व्यक्त कर दिया है कि यह 'धर्म बनाम अधर्म' एवं 'न्याय बनाम अन्याय' के महत्तर द्वन्द्व का रूप पा गया है। अन्यथा अपनी मूलभूत स्थिति में महाभारत की 'थीम' उतनी उदात्त नहीं, जितनी रामायण की।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राम 'नारायण' हैं। उनका जीवन-दर्शन अस्तित्व के शुद्ध प्रत्यभिज्ञान पर आश्रित है। रावण 'प्रतिनारायण' है। उसका जीवन-दर्शन अस्तित्व की तात्कालिक सद्यः अनुभूति पर आश्रित है। अस्तित्व जिस रूप में तत्काल, सद्यः और निकट है, वह रूप भौतिक है—भौतिक स्पर्श, भौतिक स्वाद आदि। पर अस्तित्व अपने शुद्ध प्रत्यभिज्ञान में आत्मिक हैं। अतः राम-रावण का द्वन्द्व प्रत्यभिज्ञा और अस्तित्ववाद का द्वन्द्व है। यहाँ पर हमारा तात्पर्य इतना ही है कि रावण, हीन या क्षुद्र यानी नीच नहीं, जैसा कि तुलसीदास आदि भक्त-कवियों ने कहीं-कहीं लिख मारा है। वह नारायण की भागवती-शक्ति से प्रतिद्वन्द्विता के लिए अपने अन्दर तप और त्याग का बल अर्जित करता है। उसकी प्रतिनारायणीय गरिमा वाल्मीकि और स्वयम्भू (पउमचरिउ) के माध्यम से ज्ञात होती है।

जैन-परम्परा के अनुसार राम, बलभद्र के अवतार हैं और लक्ष्मण वासुदेव के। साथ ही, रावण को 'प्रतिवासुदेव' का अवतार कहा गया है। जैन-रामायण के अनुसार रावण का वध लक्ष्मण द्वारा होता है। स्वयम्भू ने कुमार रावण के अडिग तप का अद्भुत वर्णन किया है। शक्तिशाली विद्याधर अपनी माया द्वारा उसमें भय, शोक या क्रोध का कोई क्षोभ उत्पन्न करना चाहते हैं। एकमात्र रावण का ही मन नहीं विचलित होता है, विभीषण और कुम्भकर्ण के मन का वीरासन क्रोध द्वारा कम्पित हो जाता है। रावण के इस अडिग मन का चित्र पढ़ते समय कालिदास की 'निर्वात निष्कम्प दीपशिखा' जैसे पर्यंकबद्ध रुद्रासन की याद आ जाती है। अन्त में रावण दस हजार विद्याओं से अपने व्यक्तित्व को समृद्ध करता है और भट्टारक बालि को छोड़कर शेष सबको अपनी विद्याशक्ति से पराजित कर डालता है। भट्टारक बालि रावण को पराजित करके सुग्रीव को राज्य देकर और उसे रावण का सामन्त बनाकर बन्धुभाव से रहने का आदेश देकर स्वयं उत्तराखण्ड में तप करने चले जाते हैं। स्मरण रहे कि जैन-रामायण के अनुसार राम-लक्ष्मण बालि का वध नहीं करते, बल्कि असली सुग्रीव के लिए किसी नकली सुग्रीव का वध करते हैं, जिसने किष्किंधा के सिंहासन का छलपूर्वक अपहरण कर लिया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहने का तात्पर्य यह है कि जैन-रामायण में स्पष्टतः राम-लक्ष्मण को 'देवत्व' का अवतार कहा गया है, तो रावण को 'प्रतिदेवत्व' का और उसका चित्रण भी इसी प्रतिदेवत्व की गरिमा के अनुकूल किया गया है।

वाल्मीकि स्पष्ट रूप से रावण को प्रतिनारायण या प्रतिवासुदेव आदि कुछ नहीं कहते। परन्तु उनकी ऋषि-दृष्टि ने रावण को हीन और क्षुद्र रूप में नहीं अंकित किया है। तुलसीदास भक्त थे और वाल्मीकि ऋषि। ऋषि-दृष्टि सत्य से प्रतिबद्ध रहती है और भक्त-दृष्टि भक्ति से। इसी से विशेष स्थलों पर ऋषि-दृष्टि, भक्त-दृष्टि से अधिक निष्पक्ष हो जाती है। वाल्मीकि ने कई स्थलों पर रावण को एवं राक्षसों को 'महात्मा' विशेषण दिया है, 'महात्मा' शब्द के २०वीं शतीवाले पाप-पुण्य-विद्ध अर्थ से भिन्न, तटस्थ अर्थ में 'असाधारण आत्मावाला', सुन्दरकाण्ड में हनुमान ने रावण के अन्तःपुर का निरीक्षण किया, जहाँ 'दो भुजावाला' (देखिये, १०वाँ सर्ग, जहाँ रावण की भुजा के सारे विशेषण दिये गये हैं) राक्षसेश्वर अनेक सुन्दरी नारियों से घिरा हुआ सो रहा है। इसी स्थल से पूर्व कवि का कथन है :

रावणेसुखसंविष्टेताः स्त्रियोविविध प्रभाः।
ज्वलन्तः काञ्चनादीपाः प्रेक्षंत्यो निमिषाइव ॥
राजर्षिभि प्रदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः।
रक्षसां चाभवनकन्यास्तस्यकामवशं गताः ॥
न तत्र काश्चित्प्रमदाः प्रसह्यवीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धा।
नचान्यकामापिनचान्य पूर्वाविनावराहां जनकात्मजां तु ॥
(सुन्दरकाण्ड, ९। ६८, ६९, ७१)

रावण के सुखपूर्वक सो जाने पर वहाँ के जलते हुए केवल सुवर्णदीप ही उन विविध प्रभामयी सुप्ता भामिनियों को एकान्त में एकटक निहार रहे थे। राजर्षियों, ब्राह्मणों, दैत्यों और गन्धर्वों की नारियाँ कामवश रावण की पत्नी बन गयीं। वहाँ पर कोई नारी ऐसी नहीं थी, जिसे बल-पराक्रम से सम्पन्न होने पर भी रावण बलात्कारपूर्वक हर लाया हो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सीता को छोड़कर वहाँ कोई ऐसी दूसरी स्त्री नहीं थी, जो रावण से भिन्न दूसरे प्रेमी की कामना करती हो या किसी अन्य की 'पूर्वा' (पूर्व-पत्नी) रह चुकी हो। यद्यपि वाल्मीकि ने उसे दुरात्मा भी घोषित किया है, परन्तु तुलसीदास और कम्बन की तरह कहीं भी उसे सीधे-सीधे 'पापी' और 'अधर्म' का पशु नहीं घोषित किया है।

रामायण, काम की ट्रेजेडी है। रावण संयोगवश या स्वभाव के अंदर छिपे संस्कारवश काम का मृग बन जाता है या अन्त में काममृग बनना प्रतिनारायणीय दर्शन की नियति ही है। चाहे जो हो, पर इतना निश्चित ही है कि रावण अपनी साधनावस्था में माया को जीतता है, नारायण और प्रतिनारायण दोनों के पीछे तप का बल रहता है। दोनों साधनावस्था में माया को समानभाव से जीतते हैं। परन्तु, दोनों की सिद्धावस्था में विपरीत स्वभाव का विकास होता है। रावण माया को जीतता है, विद्याओं को जीतकर वशवर्तिनी बनाता है तो इसलिए कि इनको मुट्ठी में रखकर वह इनका स्वेच्छया भोग कर सके। वह माया का मुक्त स्वच्छन्द आस्वादन करने के लिए ही सारी साधना करता है। रावण व्रतबद्ध होता है, दस हजार विद्याओं और चन्द्रहास खड्ग की सिद्धि करता है सृष्टि विजय के लिए, स्वर्ग विजय के लिए, देवमण्डल के स्थान पर राक्षसों का प्रतिदेवमण्डल स्थापित करने के लिए, 'देवधर्म का प्रतिधर्म' स्थापित करने के लिए। ये सब-के-सब माया के ही बड़े-बड़े पाश हैं। इस प्रतिनारायण का तप माया के ऊपर स्वामित्व-स्थापन के लिए ही होता है। पर होता यह है कि अपनी अन्तिम परिणति में यह माया, विजयी तपस्वी प्रतिनारायण माया की ही क्रीतदास होकर समाप्त हो जाता है। मन्दोदरी ने इसे स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है :

> इन्द्रियाणिपुराजित्व जितं त्रिभुवनं त्वया
>
> स्मरद्भिरिवतद्वैरभिन्द्रियैरेवनिर्जितः

(युद्धकाण्ड, १११। १५)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(पूर्वकाल में इन्द्रियों को जीतकर तुमने तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की थी। उसी वैर का स्मरण करती हुई इन्द्रियों द्वारा तुम जीत लिये गये)।

रावण माया को जीतकर फिर माया का पशु बन जाता है, इन्द्रियों को जीतकर फिर इन्द्रियों का दास बन जाता है, अपने विज्ञान (विद्या) द्वारा वह प्रकृति को जीतता है, पर उसकी सिद्धावस्था में प्रकृति उसकी अनुगामिनी नहीं, स्वामिनी है। प्रतिनारायणीय दर्शन में सारे तप, सारे संयम का लक्ष्य होता है अबाध भोग, स्वच्छन्द भोग, परन्तु नारायण का रूप कुछ और है। साधनावस्था में नारायण के पास भी तप का ही आश्रय है—वह निरन्तर अपने एकरूप में बदरीवन में तपलीन है, निरन्तर शक्ति का अर्जन कर रहा है। परन्तु निद्रावस्था में वह मायातीत है। ईश्वरत्व की परिभाषा श्रीमद्भागवत में दी गयी है।

'एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्योः पि चद्‌गुणैः न युज्यते'—ईश्वर, प्रकृति के भीतर रहते हुए भी उसके गुणों से परे असम्पृक्त रहता है, यही 'ईशस्य ईशनम्' (ईश्वर का ईश्वरत्व) है। (१। ११। ३४)। राम, प्रकृति के अन्दर, प्रकृति के साथ-साथ रहते हुए भी निर्लिप्त पुरुष हैं। वे माया के पशु नहीं। उनका उद्देश्य मायातीत है। वे रावण से युद्ध, भोग्या सीता के उद्धार के लिए ही नहीं करते हैं। कोई भी पुरुष जो 'स्व' के परे भोगातीत उद्देश्य के लिए समर करता है, नारायण का प्रतीक है। हमारे युग में भी अनेक ऐसे पुरुष हो गये हैं जो कोई जीवन-दर्शन भोग को साथ-साथ स्वीकारते हुए, माया और प्रकृति को पत्नी-रूप स्वीकारते हुए भी, यह घोषित करता है कि पुरुषार्थ या चरम लक्ष्य भोग-साधन नहीं, व्यक्ति की आत्मा है, वह नारायणीय जीवन-दर्शन है। जो जीवन-दर्शन पुरुषार्थ या चरम लक्ष्य को भोग-साधन पर ही समाप्त कर देता है और व्यक्ति की आत्मा के विकास से उसका कोई ताल्लुक नहीं, जो भोग-सामग्री के सर्वाधिक संचय, उत्पादन और वितरण से आगे नहीं जाता, जो भोग-सामग्री से परे मानवीय मूल्यों के बारे में
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri
ज्ञानशून्य है, वह दर्शन प्रतिनारायणीय दर्शन है। रामायण इसी 'नारा-

यण', 'प्रतिनारायण' के द्वन्द्व को प्रस्तुत करता है। ये दो जीवन-दर्शन सृष्टि के आदिकाल से इतिहास के प्रारम्भ से टकराते रहे हैं। एक धर्म है तो दूसरा प्रतिधर्म। स्मरण रहे, प्रतिधर्म और अधर्म दो तरह की बातें हैं। यदि आज की भाषा में इनका उदाहरण दिया जाये, तो कहा जा सकता है कि भौतिक सुखवाद और नास्तिकता एवं मार्क्सवाद 'प्रतिधर्म' है। 'अधर्म' क्षुद्र और हीन होता है। परन्तु 'प्रतिधर्म' क्षुद्र और हीन नहीं होता। उसका अपना स्वतन्त्र महत्त्व होता है। लंका में जो संघर्ष हुआ था वह धर्म और प्रतिधर्म का था, परन्तु 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में जो संघर्ष हुआ था वह सीधे-सीधे धर्म और अधर्म के बीच सशस्त्र टक्कर थी। नारायणी-शक्तियाँ दोनों अवस्थाओं में धर्म के पक्ष पर थीं। हमारे महाकाव्यों का निष्कर्ष है कि दोनों प्रकार के संघर्षों में विजय 'धर्म' की ही हुई है। 'एण्टीक्राइस्ट' (प्रतिधर्म) और पाप (अधर्म) दोनों पराजित हो गये।

आज की विश्वगत ऐतिहासिक स्थिति में मानव जाति के अन्दर जो संघर्ष चल रहा है वह धर्म और अधर्म का संघर्ष नहीं : वह संघर्ष है धर्म और प्रतिधर्म का, सत्य और प्रतिसत्य का, नारायण और प्रति-नारायण का। प्रतिधर्म के चेहरे हैं, नयी राजनीति और नव-औद्योगिक क्रान्ति और विज्ञान। इन तीनों के पीछे भी शताब्दियों की वैचारिक तपस्या, बौद्धिक संघर्ष और आदर्शों की साधना है। पर इनका उपजीव्य और उद्देश्य दोनों भौतिक सुखवाद हैं। भौतिक सुख के मलद्वार में व्यक्ति को कैद करने के लिए पार्टी और टेक्नोक्रेसी, दोनों के माध्यम से ये प्रतिधर्म का व्यूह रच रहे हैं। टेक्नोक्रेसी, व्यक्ति को टेस्टट्यूब से ज्यादा नहीं मानती। अतः टेक्नोक्रेसी और नये साइन्स पर आधारित जीवन-दर्शन भी अधर्म नहीं, परन्तु प्रतिधर्म है। एवं यह भी कम मतान्ध या 'फैनेटिक' नहीं। राजनीतिक दल और विश्वविद्यालय दोनों ही इसके चर्च हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परिशिष्ट

सच्ची वीरता

सच्चे वीर पुरुष धीर, गम्भीर तथा समबुद्धिवाले होते हैं। जीवन के किसी पवित्र ध्येय और आदर्श को लेकर जब ये उठ खड़े होते हैं, तो दैहिक, भौतिक और दैविक—तीनों प्रकार की शक्तियाँ इसके समक्ष नतमस्तक हो जाती हैं। वीरों का शासन जनता के हृदय पर होता है, इसलिए बड़ी-से-बड़ी बादशाहत की ये परवाह नहीं करते। इनके लिए कुछ भी अगम्य नहीं होता। सत्य के मार्ग पर ये सदैव दृढ़ और अविचलित रहते हैं। अन्याय के प्रतीकार और अत्याचार के दमन के लिए ये कृतसंकल्प होते हैं। ये ही संसार के सच्चे परोपकारी होते हैं। सच्चे वीरों का निर्माण किसी बाहरी प्रेरणा या शक्ति से नहीं होता, अपनी आत्मा की सत्य-प्रेरणा से ही ये अलौकिक कार्य कर डालने में सक्षम होते हैं। वीरता का प्रदर्शन केवल रणक्षेत्र में ही नहीं—दान, दया, उदारता, प्रेम आदि मानवीय गुणों के विकास में भी होता है। मानवता के उद्धार के लिए सर्वस्व स्वाहा कर देनेवाले ही सच्चे वीर होते हैं। मुहम्मद, मंसूर, शम्स तबरेज़, लूथर, रणजीत सिंह, ईसामसीह, नैपोलियन, जैसे महापुरुषों के जीवन-चरित्र 'सच्ची वीरता' के उदाहरण हैं। अन्त में लेखक कहता है कि हमें अपने चरित्र में दृढ़-निष्ठा उत्पन्न करनी चाहिए; अपनी आत्मिक-शक्तियों का विकास करना चाहिए।

शब्दार्थ—सत्त्वगुण = सात्त्विक-वृत्ति। क्षीर-समुद्र = दूध का सागर, पौराणिक कल्पना है कि यहाँ विष्णु भगवान् निवास करते हैं। अगम्य = जहाँ पहुँचना कठिन हो। पिंडोपजीवी = दूसरे की कमाई पर शरीर पुष्ट करनेवाले। काफ़िर = ईश्वर के प्रति अकृतज्ञ। कलाम = कथन। पोप = कैथोलिक ईसाइयों के धर्म-गुरु। कुदरत = प्रकृति। हुकूमत = शासन। ग़र्क = नष्ट होना। शिकस्त = पराजय। इल्हाम = ईश्वर की वाणी। मरकज़ = केन्द्र। हकीकी = ईश्वरीय। सलीब = सूली। ब्रह्मज्ञानी = ईश्वर का ज्ञान रखनेवाला। एल्प्स = एक पर्वत। कारलायल = अंग्रेजी का एक प्रसिद्ध लेखक। मलबा = इमारत गिर जाने के बाद बचा हुआ ईंट-मिट्टी का ढेर।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लोक-धर्म

कर्म, ज्ञान और उपासना— इन तीनों के समुचित योग से मानव-जीवन पूर्ण होता है। इसमें से किसी एक तत्त्व की प्रधानता होने पर लोक-धर्म के दूसरे तत्त्व उपेक्षित हो जाते हैं। तब समाज में साम्य स्थापित करने के लिए जिन दूसरे तत्त्वों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया जाता है, उनकी ही बाद में अतिव्याप्ति हो जाती है और अन्य तत्त्व पुनः उपेक्षित होने लगते हैं। इस प्रकार समाज में अशान्ति बनी ही रहती है। समाज में शान्ति की स्थापना के लिए जीवन के विविध-पक्षों में जिस पूर्ण सामंजस्य की आवश्यकता होती है, गोस्वामीजी उसी प्रकार सामंजस्य-भाव लेकर अवतीर्ण हुए। लोक-प्रतिपालक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के आदर्श चरित्र की झाँकी प्रस्तुत करके इन्होंने जनता को दया, दाक्षिण्य, शील, विनम्रता आदि मानवीय गुणों में ही लोक-धर्म का प्राकृतिक मनोहर रूप नहीं दिखलाया, अपितु लोक-कल्याण के हित में किये गये क्रोध, घृणा, ध्वंस, शोक आदि को भी लोक-धर्म के लिए आवश्यक बताया। इनके अभाव में समाज में, लोक-विरोधी तत्त्वों को बढ़ावा मिलता है। प्रसिद्ध समाज-शास्त्रवेत्ता श्री गिडिंग ने भी लोक के संग्रह और विरोध की दृष्टि से जनता को लोक-संग्रही, लोक-बाह्य, अलोकोपयोगी और लोक-विरोधी—इन चार भागों में विभाजित किया है। कहना न होगा, तुलसीदासजी ने समाज के इस लोक-विरोधी स्वरूप को खूब पहचाना था।

शब्दार्थ—अवयव = अंग। प्रवृत्ति = रुचि; मानसिक झुकाव; रुझान। उपनिषद् = वेदों के उपरान्त लिखे गये वे ग्रन्थ जिनमें गूढ़ आध्यात्मिक विचार हैं। एकांगदर्शिता = जीवन के एक ही पक्ष की ओर देखना। शैव = शिव को माननेवाला धर्म-सम्प्रदाय। वैष्णव = विष्णु की उपासना करनेवाला धार्मिक सम्प्रदाय। शाक्त = शक्ति-स्वरूपा दुर्गा का उपासक धार्मिक-सम्प्रदाय। एकेश्वरवाद = 'ईश्वर' एक ही है, दूसरा नहीं, इस मत को मानना। सर्वांगदर्शी = जीवन के प्रत्येक पक्ष की ओर दृष्टि रखनेवाला। प्रकृत = सहज, स्वाभाविक। दाक्षिण्य = उदारता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साहित्य-विटप

प्रस्तुत निबन्ध में रूपक की भाषा में साहित्य और साहित्यकारों की विशेषताओं का व्यंग्यपूर्ण चित्रण है। गद्य और काव्य-साहित्य की दो प्रमुख और अन्योन्याश्रित विधाएँ हैं, किन्तु कविता के गद्य की तुलना में अधिक कोमल और मर्मस्पर्शी होने के कारण कविगण गद्य-लेखकों के प्रति उपेक्षापूर्ण रुख अपनाते हैं और उनकी तुलना में स्वयं को अधिक प्रतिभा-सम्पन्न, महत्त्वपूर्ण और साहित्य-जगत् में उच्च स्थान का अधिकारी मानते हैं। अत्यन्त शिष्ट शैली में रूपक का आश्रय लेकर व्यंग्य करते हुए लेखक ने इन्हें साहित्यरूपी आकाश के सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, ध्रुव, सप्तर्षि जैसे नक्षत्र और गद्य-लेखकों को असंख्य छोटे-छोटे चमकते सितारे कहा है, जो टिमटिमाकर रात्रि को अनुपम सौन्दर्य प्रदान करते हैं। एक दूसरे लम्बे रूपक में लेखक ने साहित्यरूपी विटप के कविरूपी 'नयनाभिराम कुसुमों' को सम्बोधित करते हुए कहा है कि गद्य-लेखक-रूपी-पल्लव किसी भी दृष्टि से इन कवि-कुसुमों से हीन और दयनीय नहीं हैं, क्योंकि इनके अभाव में साहित्य-विटप ठूँठ रह जायगा। पल्लवों के ही समान ये समाज से प्राणदायिनी जीवन-शक्ति ग्रहण करके साहित्य को समृद्ध और संपुष्ट करते हैं। वास्तव में गद्य कविता की कसौटी ही नहीं, उसकी जमीन है। गद्य का आधार लेकर ही कविता उद्भूत होती है। इस अभिप्राय को लेकर लिखे गये इस निबन्ध में व्यंग्य का सर्वोत्कृष्ट और शिष्ट रूप दिखायी देता है।

शब्दार्थ—विटप = वृक्ष। अरुन्धती = सप्तर्षि-मंडल का एक छोटा तारा। निष्प्रभ = प्रभाहीन। स्वप्निल = काल्पनिक। अनभिनन्दित = जिसका अभिनन्दन न किया गया हो। प्रस्फुटित = विकसित। कलेवर = शरीर; रूप। परिधान = वस्त्र; वेश-भूषा। नगण्य = न गिने जाने योग्य, तुच्छ। बटोही = यात्री। प्रकृति-भीरु = स्वभाव से डरपोक। आसन्न-मृत्यु = जो मृत्यु-शैय्या पर हो। गवाक्ष = झरोखा। निर्माल्य = निर्मलता; देवता के प्रति अर्पित पदार्थ। नीलोत्पल = नील-कमल। तुषार = पाला। उपल = ओला। कबरी = चोटी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गेहूँ बनाम गुलाब

'गेहूँ बनाम गुलाब' बेनीपुरीजी का एक प्रतीकात्मक निबन्ध है, जिसमें 'गेहूँ' शारीरिक आवश्यकताओं और भौतिक सुख तथा 'गुलाब' मानसिक-वृत्तियों और सांस्कृतिक समन्वय का प्रतीक है। अन्य प्राणियों के समान मनुष्य भी जन्म से क्षुधा और पिपासा का दास होता है, मानसिक वृत्तियों का परिष्कारकर वह इन आदिमवासनाओं पर विजय प्राप्त करता है और इसीलिए प्राणि-जगत् में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य बनता है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति इसलिए आवश्यक है कि इससे मनुष्य की मानसिक वृत्तियों का सम्पोषण और उन्नयन होता है। किन्तु जब उसके जीवन में शारीरिक आवश्यकताएँ मानसिक वृत्तियों पर हावी होने लगती हैं, तो उसके जीवन की सुख-शान्ति छिन्न-भिन्न होने लगती है। इसका परिणाम महाविनाश होता है। आज के युग में भी मानसिक समुन्नयन के स्थान पर भौतिक सुख-समृद्धि को ही अधिक प्रश्रय दिया जा रहा है। परिणाम है—वही महाविनाश ! अतः आवश्यकता है कि मनुष्य मानसिक वृत्तियों को 'ऊर्ध्वगामी' बनाने में कृतसंकल्प हों। आज 'गेहूँ' और 'गुलाब' में सन्तुलन की नहीं, 'गुलाब' द्वारा 'गेहूँ' को जीत लेने की आवश्यकता है। यह 'गुलाब' की दुनिया—मानस का संसार—सांस्कृतिक संसार ही मनुष्य को सच्ची सुख-शान्ति और समृद्धि देने में सक्षम है।

शब्दार्थ—तरजीह = आदर। तुरही = फूँककर बजानेवाला एक प्रकार का वाद्य, जो दूसरे सिरे की ओर बराबर चौड़ा होता जाता है। तराने = एक विशेष प्रकार का गीत, जिसके बोल निरर्थक शब्दों के हों—तोम त न न। उच्छ्वसित = जो उच्छ्वास के रूप में बाहर आया हो। आकांक्षा = इच्छा, अभिलाषा। यूटोपिया = अनागत भविष्य की झलकियाँ। हस्तामलकवत् = हाथ में लिये हुए दर्पण के समान प्रत्यक्ष और सत्य। अकाय = बिना शरीरवाला। ऊर्ध्वगामी = ऊपर की ओर जानेवाला। दीदार = दर्शन। स्खलित = च्युत, अपने स्थान से गिरा हुआ, पतित।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजसेवक

प्रस्तुत निबन्ध में लेखक ने 'बाणभट्ट' के 'हर्ष-चरित' के आधार पर राजसेवकों की अनेकानेक सुख-दुःख की मनोदशाओं, एवं कुत्सित कर्म, काट-कपट, दाँव-पेंच, खुशामद और चापलूसी आदि का वर्णन किया है। राजसेवक 'मनुष्य' कहलाने के अधिकारी नहीं, क्योंकि थोड़े-से भौतिक सुखों के लिए वे अपने स्वाभिमान को भी त्याग देते हैं। राजसेवकों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। 'पद' की लालसा से ग्रस्त ये घृणित-से-घृणित कार्य करने को प्रस्तुत रहते हैं और सब प्रकार से दीन और हीन होकर वे समाज में निकृष्ट स्थान प्राप्त करते हैं। चिर-दरिद्रता के चंगुल से छूटने की चाह और 'पद' का लोभ उन्हें राजसेवा स्वीकार करने को बाध्य करता है। उनकी आत्मा तो राजसेवा स्वीकार करते ही मर जाती है, उनकी अपनी मौलिक प्रतिभा और सामाजिक प्रतिष्ठा का भी समूल नाश हो जाता है। अन्त में निष्कर्ष देते हुए लेखक कहता है—कि राजसेवकों की मनःस्थिति और उनके सामाजिक परिवेश का जैसा सूक्ष्म और मनोविश्लेषणात्मक वर्णन बाण ने किया है, वह उनकी पैनी सूझ का परिचायक है। ऐसा प्रकरण विश्व-साहित्य में अद्वितीय है।

शब्दार्थ—कुत्सित = घृणित। उद्‌गार = आवेश की अवस्था में निकली हुई ऐसी बातें, जो कुछ समय तक मन में दबी रही हों। हंसवेग = 'बाणभट्ट' के 'हर्षचरित' का एक पात्र। भृत्य = सेवक। राजिल = साँप का केंचुल। पयाल = धान, कोदो आदि के ऐसे डंठल, जिनमें से दाने झाड़ लिये गये हों, पुआल, पियरा। मनस्वी = उदात्त विचारोंवाला। डंडौत = शुद्धरूप-दण्डवत्, भूमिष्ठ होकर प्रणाम करना। पाँवड़ा = पाँवदान, पैर पोंछने के लिए पड़ा या बिछा हुआ कपड़ा। कराभिघात = हाथ की चोट। कोणाभिघात = कोण की चोट। कन्दुक = गेंद। दारुण = भयानक, भीषण। दुष्कृती = बुरे काम करनेवाला। कुटियाना = मारना। प्रतिहारी — द्वारपाल। त्रिशंकु = एक राजा, जिसके सदेह स्वर्ग जाने के हठ पर ऋषि विश्वामित्र ने अपनी तपश्चर्या के बल पर स्वर्ग की ओर भेज दिया, पर स्वर्ग के राजा इन्द्र ने मर्यादाभंग होने के भय से उसे स्वर्ग में आने नहीं दिया, फलतः वह बीच में ही लटका रह गया है। कहते हैं, आज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी वह इसी प्रकार अधर में लटका हुआ है। मातहत = अधीनस्थ कर्मचारी। ओहदा = पद। दग्ध-मुंड-सम्प्रदाय = एक विशेष प्रकार का सम्प्रदाय। विदूषक = नाटक का पात्र, जिसका काम दर्शक को हँसाना होता है और जो नायक का मुँहलगा मित्र होता है।

देत सिख, सिखयो न मानत

प्रस्तुत निबन्ध एक आत्म-विश्लेषणपरक निबन्ध है, जिसमें तुलसीदासजी की एक पंक्ति—'देत सिख, सिखयो न मानत' [सीख देता हूँ, सिखाया नहीं मानता]— के माध्यम से लेखक ने मानवमात्र की एक बहुत बड़ी कमजोरी की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है। दुर्बलताएँ सबमें होती हैं, किन्तु सहज और निश्छल भाव से उन्हें स्वीकार करने की क्षमता सब में नहीं होती, तुलसीदास जैसे विरले महात्माओं में यह साहस होता है। दूसरे को सीख देना, किन्तु स्वयं सिखाये न मानना—अर्थात् अपनी ही जानकारी के आचरण से कतराना— यह एकांगी जीव-दृष्टि धर्म के मार्ग का अवरोध बन जाती है। मन से स्वीकारे गये सत्य की आचरण से उपेक्षा करना—यह मनुष्य-जीवन की सीमा है। किन्तु मनुष्य, सब प्राणियों में सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न है। उसमें इच्छा-शक्ति का बल और आत्म-निरीक्षण की क्षमता है। अपनी जानी हुई बुराइयों और कमियों को दूर करने का प्रयत्न वह कर सकता है। यह प्रयत्न अनन्त सम्भावनाओं का कारण है। इसी सम्भावनाओं के द्वार से भगवान का साक्षात्कार किया जा सकता है। 'उस ईश्वर' की प्राप्ति के लिए अपनी सारी कमजोरियों के साथ निष्कपट भाव से स्वयं को उसके हाथों में सौंप देना होता है, अपनी सम्पूर्ण 'अहंता' निःशेष कर देनी होती है—इसी प्रकार उस 'महाप्रेमिक' को सन्तुष्ट किया जा सकता है। हमारे वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार के लिए ऐसा ही व्यापक आधार चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शब्दार्थ—श्रुति = वेद। स्मृति = धर्मशास्त्र। स्रोत = उद्‌गम। अस्तित्व = किसी वस्तु की साप्राण स्थिति। समृद्ध = सम्पन्न; सशक्त; प्रभावशील। निर्द्वन्द्व = द्वन्द्वरहित। परिपंथी—मार्ग या रास्ता रोकनेवाला। उद्विग्न = बेचैन, विकल। अन्तर्वैयक्तिक = व्यक्तित्व के भीतर का। कुंडलिनी = हठयोग में, नाभि के पास, मूलाधार के नीचे, सुषुप्त अवस्था में रहनेवाली वह शक्ति जिसे साधना के द्वारा जगाया जाता है और जिसके ब्रह्मरंध्र में पहुँचने पर योगी मुक्तजीवन प्राप्त करता है। उद्‌बुद्ध = जागृत बुद्धिवाला। निष्क्रिय = जड़; क्रियाहीन। आत्यन्तिक = जिसका कभी नाश न हो। सम्मुख्य = साक्षात्कार। विच्युतियाँ = भ्रष्ट होने की अवस्था या भाव। नैवेद्य = पूजा की सामग्री। अनावृत = खुला हुआ। पृथकत्व भाव = अलगाव। एकमेक = जो किसी में मिलकर उसके साथ बिल्कुल एक हो गया हो। अमानी = स्वाभिमानरहित। अन्यथाचरण = विपरीत आचरण। प्रेयान् = प्रिय।

●

रामा

प्रस्तुत संस्मरणात्मक निबन्ध में—जिसे एक सफल रेखाचित्र और गल्प भी कहा जा सकता है—महादेवीजी ने अपने शैशवकालीन नौकर 'रामा' के व्यक्तित्व और चरित्र का मार्मिक चित्रण किया है। विमाता के अत्याचार से पीड़ित और भूख-प्यास की मार से विकल रामा अकस्मात् ही इनकी माता के पास पहुँचकर उनकी सहज ममता का अधिकारी बन बैठता है और महादेवी सहित इनके दो और छोटे भाई-बहनों का संरक्षक। और तभी से रामा इन भाई-बहनों का सबसे अच्छा और एकमात्र साथी बन जाता है। इनको सुबह जगाने से लेकर रात्रि में सुलाने तक का प्रत्येक कार्य रामा अत्यन्त सावधानी से करता था। देखने में रामा सुन्दर नहीं—कुरूप ही था, किन्तु अपने हृदय के विलक्षण सौन्दर्य के कारण रामा से बढ़कर सुन्दर किसी दूसरे साथी की कल्पना इन सभी के लिए दुर्लभ थी। प्राण रहते रामा इन बच्चों का अनिष्ट नहीं होने दे सकता था। एक बार महादेवी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को भयंकर बीमारी से बचाने के लिए उसने अपने प्राण संकट में डाल लिये थे। इन बच्चों से उसे इतना प्रेम था कि पत्नी का हस्तक्षेप भी वह सहन नहीं कर पाता था—इसीलिए लड़-भिड़कर उसके मायके चले जाने पर वह फिर पहले की ही तरह बच्चों में लीन हो गया। महादेवीजी की माता की दृष्टि में यह अन्याय था, अतः उनके विशेष आग्रह पर रामा को खिन्न मन से ही सही—घर जाना पड़ा। और फ़िर वह लौटकर नहीं आया। रामा चला गया, किन्तु आज भी वह सत्य, सुन्दर और स्मरणीय रूप में इनके हृदय में विद्यमान है।

शब्दार्थ—कच्छ मत्स्यावतार = भगवान् विष्णु का कछुए और मछली के रूप में अवतार। मनोयोग = लगन। अर्गला = जंजीर। अपरूपता = कुरूपता। चक्रव्यूह = ऐसा व्यूह जो भेदा न जा सके। उत्फुल्ल = विशेष प्रसन्न; खिला हुआ। भाष्यकार = टीकाकर। मन्तव्य = अभिमत। शुक्राचार्य = राक्षसों के धर्म-गुरु। विश्वकर्मा = ब्रह्मा, सूर्य, ईश्वर, विशेष नाम का शिल्पकार। अवगुण्ठन = आवरण; घूँघट। निर्वाक् = मौन। निस्तन्द्र = निरालस्य।

पुराण और संस्कृति

प्रस्तुत निबन्ध एक विचार-प्रधान निबन्ध है, जो दो भागों में विभाजित है। लेखक कहता है कि अन्य देशों की भाँति भारत के सांस्कृतिक जीवन में बाहरी शक्तियों के प्रविष्ट होने पर एक नयी जागृति देखी जाती रही है। इसका कारण, देश में प्रचलित सांस्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा के प्रयत्न के साथ ही दोनों पक्षों द्वारा अत्यन्त परिश्रम और लगन के साथ परस्पर विचारों और जीवन-परिपाटियों का अध्ययन करके एक दूसरे को समझने का प्रयत्न भी था। इसका उदाहरण यूरोपीय और भारतीय संस्कृतियों के सम्मिलन के समय उत्पन्न नवीन सांस्कृतिक-चेतना में देखा जा सकता है। वस्तुतः दोनों संस्कृतियों के सम्बन्धों को निर्धारित करनेवाली रूढ़ियों के अभाव में सम्बन्धों के रूप अधिक घनिष्ठ होते हैं। किन्तु रूढ़ियों के बन्धन में बंधने के साथ ही, सम्बन्धों में पृथकत्व और दूरत्व की भावना आ जाती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। तब दोनों संस्कृतियों का एक दूसरे से इस तरह विमुख हो जाना कि उनके बीच कोई कौतूहल और आकर्षण न रह जाय—यही एकमात्र विकल्प बचता है।

मानव-जीवन में पुराणों का बहुत महत्त्व है, इसलिए नहीं कि इनका आधार धार्मिक है, वरन् इसलिए कि किसी देश की संस्कृति को समझने के लिए इनका ज्ञान आवश्यक हैं। आज के भारतीय जीवन में इनका महत्त्व और बढ़ जाता हैं; क्योंकि इसमें जीवन के समष्टिगत आदर्श और बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है। इनके प्रति त्याज्य दृष्टिकोण रखना अवांछनीय ही नहीं, अलाभकारी है।

शब्दार्थ—विजित = जीता हुआ। प्रागैतिहासिककाल = क्रमबद्ध रूप में प्राप्त होनेवाला लिखित इतिहास से पूर्वकाल; प्रबल, प्रचंड। उन्मुख = उद्धत, प्रस्तुत। परिपाटी = चलन, रीति। परिज्ञाता = अच्छी तरह या विशेष रूप से जाननेवाला। संस्कृत = शुद्ध किया हुआ। परिवृत्ति = ढकने, घेरने या छिपानेवाली वस्तु। स्नंबरी = असभ्यता। अधिजात = उत्तम वंश में उत्पन्न हुआ। निमित्त = कारण, साधन। औचित्यानौचित्य = उचित और अनुचित। विच्छिन्न = बुरी तरह, छिन्न-भिन्न। ट्रेजेडी = दुर्घटना; दुःखान्त नाटक। गर्हित = त्याज्य। पुराण = प्राचीन कथा-कहानियों का समूह, जिनका धार्मिक आधार होता है। भारतीय संदर्भ में १८ पुराण माने गये हैं। प्राग्जीवन = पूर्व-जीवन। जुगुप्सा = घृणा; निन्दा। अतिमानवी = मानव-शक्ति से परे। अवधारणा = अच्छी तरह सोच-समझकर किया गया निश्चय, परिणाम तक पहुँचना। पुरातत्त्व = वह विद्या, जिसमें इतिहास-पूर्व-काल की वस्तुओं के आधार पर पुराने अज्ञात इतिहास का पता लगाया जाता हैं। नृतत्त्व = मनुष्य से सम्बन्धित विद्या (ऐन्थ्रापॉलोजी)। परिष्कार = सुधार।

भाषा, धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता

भाषा, धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता—इन चारों तत्त्वों का मानव-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अभिव्यक्ति का एकमात्र आधार होने के कारण भाषा का महत्त्व सबसे अधिक है। समस्त लौकिक व्यवहार भाषा द्वारा निष्पन्न होते हैं। आधुनिक युग में संचार के वैज्ञानिक साधनों के विकास के साथ-साथ भाषा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का महत्त्व और बड़ा है, किन्तु भाषा के साथ कुछ पूर्वाग्रह और भ्रान्तियाँ भी जुड़ी हैं। भाषा का धर्म के साथ अभिन्न सम्बन्ध जोड़कर कुछ लोगों ने संस्कृत को हिन्दू, पाली को बौद्ध, अरबी को इस्लाम और हिब्रू को ईसाईधर्म की भाषा कहा है। यह धारणा असत्य है; क्योंकि हिब्रू न जाननेवाला भारतीय ईसाई ही है; संस्कृत न जाननेवाले अधिकांश हिन्दू अपने को हिन्दू ही कहते हैं। इसके अतिरिक्त भी—धर्म, स्वेच्छा से एक पल में बदला जा सकता है, पर भाषा का आमूल परिवर्तन एक पीढ़ी में भी सम्भव नहीं। भाषा को संस्कृति-सम्पृक्त किया गया है, किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध परम्पराओं, रीतियों, विश्वासों और आचारों से है। सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत की एक राष्ट्र के रूप में कल्पना की गयी है। राजनीतिक एकता के अभाव में भी भारत की सांस्कृतिक एकता अक्षुण्ण रही है।

शब्दार्थ—विरोधाभास = विरोध का आभास। एकीकरण = एक करना। पृथक्करण=अलग करना। उपलब्धि = सफलता या प्राप्तव्य। गोष्पद = गोशाला। पूर्वाग्रह=अनिश्चित, अप्रामाणिक या विवादास्पद विषय के सम्बन्ध में बिना जाने पहले आग्रहपूर्वक धारणा बना लेना। ग्राह्य = ग्रहण करने योग्य। त्रिपिटक = पालि-भाषा में रचित बौद्ध-धर्म-ग्रन्थ। सम्यक् = उचित। ख्यातनामा = प्रसिद्धि। तन्मयता = लीन होने की स्थिति। शाश्वत = चिरन्तन। नित्य = चिरस्थायी; अविनाशी। तत्तत् = उन्हीं-उन्हीं।

मैं मधुबन जाऊँगा रे

प्रस्तुत निबन्ध का प्रारम्भ एक ढोर चरानेवाले, ग्रामीण-किशोर से सुने गीत—'जाइब रे मधुबनवाँ, गोंइठवा बीने जाइब रे मधुबनवाँ' [मैं मधुबन जाऊँगा, सूखी कंडियाँ बीनने मैं मधुबन जाऊँगा]—के स्मरण से होता है। गीत के व्याज से लेखक ने आज के समाज की बात उठायी है, जहाँ जीवन की ऊष्मा (ताप, शक्ति, इनर्जी) समाप्त होने को आ रही है। पारस्परिक मानवीय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्धों में सहजता और घनिष्ठता लुप्त हो रही है। जीवन की आदिम पाशविक वासनाओं के समक्ष समस्त आकर्षण फीके पड़ गये हैं। 'मधुवन' नवजागरण और नवोन्मेष का प्रतीक बनकर आया है; अतः वहाँ तक जाने के लिए जो कुछ पुराना है, जीर्ण है, सड़ा हुआ है, उन सब का निर्ममतापूर्वक परित्याग कर देना है। किन्तु इसमें जोखिम भी बहुत है अपने-अपने घरौंदों (बन्धनों) में बन्द हो स्वयं को सुरक्षित अनुभव करनेवाले मनुष्य इसका परित्याग नहीं कर पाते। अन्त में एक रूपक बाँधा गया है, जिसमें लेखक की आदिमवासनाओं-रूपी ढोर को हाँकनेवाले उसके चित्तरूपी किशोर द्वारा मधुवन जाने के लिए बगावत कर देने की बात कही गयी है। यहाँ पहुँचकर लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "मधुवन जाना एक दारुण यातना है, पर साथ ही वह यौवन की दुर्निवार चेतना है।" किन्तु इससे मुक्ति पाने का कोई उपाय भी तो नहीं है।

शब्दार्थ—उद्वेलित = उद्वलता या ऊपर से बहता हुआ, उफनता हुआ। विहरना = विहार करना, घूमना। विसंगतिवादी = असंगत बातें करनेवाला। हुलास = उल्लास। हेय = निकृष्ट। उपादान = जिस सामग्री से कोई वस्तु बनायी जाय। ऊष्मा = ताप, गर्मी। उपक्रम = कार्यारम्भ, तैयारी। बिसात = पास में होनेवाला धन, पूँजी; शारीरिक सामर्थ्य; बिछायी जानेवाली चीज—दरी, चटाई आदि। इश्तहार = विज्ञापन। ऊत्रास = ऊब। गहमागहमी = भीड़-भाड़, चहल-पहल। सीठना = नीरस; फीका। भोक्ता = भोग करनेवाला। अनुभविता = अनुभव करनेवाला। बतास = वायु, हवा। उन्मन = अनमना, अन्यमनस्क; उन्मत्त; उद्विग्न। आपूर्ति = अच्छी तरह भरे होने की अवस्था; तृप्ति। विरूप = विकृत-रूप, कुरूप। दुर्निवार = जिसका निवारण कठिनता से हो; जिसका घटित होना प्रायः निश्चित हो। अस्मिता = अहन्ता। उन्मथित = मथा हुआ, क्षुब्ध किया हुआ, विक्षुब्ध। आलोड़न = मन में होनेवाला ऊहापोह या सोच-विचार; क्षोभ। शातिर = छँटा हुआ बदमाश। नादिहंग = दरिद्र। निर्मम = कठोर। बानक = मेल या संगति बैठना। अनुतापी = बहुत दुःखी। परिवेश = वातावरण।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नारायण और प्रतिनारायण

प्रस्तुत निबन्ध का अभीष्ट 'रामायण' और 'महाभारत' की पृष्ठभूमि में आधुनिक जीवन के संघर्ष के रूप को दिखलाना है। 'रामायण' और 'महाभारत'— दोनों ही महाकाव्यों के मूल में दैवी और आसुरी जीवन-दर्शन का द्वन्द्व है। किन्तु दोनों के स्वरूप में अन्तर है—महाभारत में वर्णित युद्धधर्म और अधर्म के बीच का युद्ध है। इसके मूल में क्रोध और प्रतिशोध की भावना है। दुर्योधन आदि कौरव-पात्रों का चरित्र अत्यन्त छुद्र और निम्नकोटि का है, जब कि रामायण का युद्ध दो समान शक्तिशाली और विराट्-शक्तियों के बीच का युद्ध है, इसलिए यह युद्ध 'धर्म और प्रतिधर्म' का युद्ध है। रामायण में रावण संयोगवश 'काम' का दास बनता है। शक्ति-सामर्थ्य-विद्या, बल, नीति—किसी भी दृष्टि से रावण, राम से हीन नहीं है, इसीलिए राम यदि नारायण हैं तो 'रावण' प्रतिनारायण है। वाल्मीकि-रामायण और जैनग्रन्थों में रावण का अत्यन्त गरिमामय एवं उदात्त चरित्र वर्णित है। किन्तु रामायण और महाभारत दोनों में—धर्म की ही विजय होती है—अधर्म और प्रतिधर्म दोनों पराजित हो जाते हैं। अधर्म तो असत्य पर आधारित है, इसलिए उसे तो हारना ही है; प्रतिधर्म इसलिए पराजित होता है, क्योंकि उसका मुख पीछे की तरफ है, उसका दर्शन खण्ड-दृष्टि से प्रभावित जीवन-दर्शन है—रावण, माया पर विजय प्राप्त करके पुनः माया का क्रीतदास बनता है, जब कि राम का दर्शन समग्र जीवन-दृष्टि को लिये हुए है, उसका उद्देश्य मायातीत और भोगातीत है। आज के युग के संघर्ष का रूप भी धर्म और प्रतिधर्म के बीच के संघर्ष का है। नयी राजनीति, नव-औद्योगिक क्रान्ति और विज्ञान—इन तीनों के पीछे सदियों की साधना और तपस्या है। किन्तु इनका उद्देश्य भौतिक सुखवाद ही है।

शब्दार्थ—नाभि-मिथक = केन्द्रीभूत पौराणिक कल्पना। प्रतिधर्म = दूसरा धर्म। प्रतीक = संकेत, चिह्न, समाज-स्वीकृत संकेत; उद्‌बोधक। संहिता = वैदिक ऋचाओं का संकलन, वेद का एक भाग। आक्रान्त = जिस पर आक्रमण हुआ हो; जो दूसरे के वश में हो। षड्‌रिपु = काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि ६ विकार। आख्यान = वर्णन, वृत्तान्त; प्राचीन कालीन में उपन्यास का एक प्रकार।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रतिनायक = नाटकों, काव्यों में वह पात्र, जो नायक का प्रतिद्वन्द्वी हो। समाहार= बहुत-सी चीज़ों का एक स्थान पर एकत्रीकरण। रक्तप्लावन = रक्त बहना। दृष्टिक्रम = देखने का क्रम। 'थीम' = निर्धारित विषय, प्रकरण। उदात्त = उत्तम, श्रेष्ठ, ऊँचा बना हुआ। प्रत्यभिज्ञा = ज्ञान प्राप्त करना, जानना। पर्यंकवद्ध रुद्रासन = एक प्रकार का योगासन। भट्टारक = राजा। सामन्त = राजा के अधीन रहनेवाला बड़ा सरदार; वीर, योद्धा। प्रतिवद्ध = बँधा हुआ। प्रतिनारायण दर्शन = जीवन को खण्ड-दृष्टि से देखनेवाला दर्शन। वशवर्तिनी = वश में रहने-वाली। परिणति = परिपाक, अच्छी तरह पकने या पचने की क्रिया, दशा या भाव। क्रीतदास = खरीदा हुआ दास। असम्पृक्त = अलग। मायातीत = माया से परे। ताल्लुक = सम्बन्ध। उपजीव्य = जीविका का आधार। टेक्नोक्रेसी = ऐसा प्रविधिज्ञ तंत्र, जो देश और जाति के हित के लिए हो। फेनेटिक = हठधर्मी, जिद्दी। साइंस = विज्ञान। टेस्ट-ट्यूब = वह नलिका, जिसमें परीक्षण किया जाय।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
वाराणसी।
आगत क्रमांक......0161..........
दिनांक..........21/5/80.........

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्नातक कक्षाओं के लिए महत्वपूर्ण कृतियाँ

कविकर्म और काव्यभाषा—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ५.००

स्वच्छन्दतावाद : छायावाद—डॉ० अजब सिंह १५.००

काव्यशास्त्र—डॉ० भगीरथ मिश्र १६.००

आलोचक और आलोचना—डॉ० बच्चन सिंह १०.००

हिन्दी का गद्य साहित्य—डॉ० रामचन्द्र तिवारी २५.००

तुलसीदास : विभिन्न दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य
—हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय [illegible]

मध्ययुगीन काव्य साधना—डॉ० रामचन्द्र तिवारी ५.००

हिन्दी भाषा और लिपि का ऐतिहासिक विकास
—डॉ० सत्यनारायण त्रिपाठी ५.००

भाषाशास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूपरेखा
—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री १५.००

हिन्दी निबन्ध—डॉ० विश्वनाथप्रसाद तिवारी १०.००

आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य का स्वरूप और विकास
—डॉ० आशाकिशोर ३०.००

हिन्दी कहानियों में व्यक्तित्व विश्लेषण
—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद शर्मा १८.००

कामायनी विमर्श —भगीरथ दीक्षित १५.००

प्रसाद तथा मिश्र के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन
—डॉ० शशिशेखर नैथानी २५.००

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri